दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा निदेशालय

(Centre for Distance & Online Education)

जम्मू विश्वविद्यालय

(University of Jammu)

जम्मू

(Jammu)

पाठ्‌य सामग्री

Study Material

M.A. (HINDI)

Course Code. 405	Session- 2024 Onwards	सत्र – चतुर्थ
	Title of Course	**Semester - IV**
Lesson No. 1 to 12	**Lok Sahitya**	**Unit I to IV**

Prof. Anju Sharma

Co-ordinator

PG Hindi

इस पाठ्‌य सामग्री का रचना स्वत्व/प्रकाशनाधिकार दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू –180006 के पास सुरक्षित है।

---

http:/www.distanceeducationju.in

Printed and Published on behalf of the Centre for Distance & Online Education, University of Jammu, Jammu by the Director, CDOE University of Jammu, Jammu.

Course Contributors

- **Dr. Ashok Kumar** **Lesson No. 1 to 4**
  Associate Professor (Retd.)
  Dept. of Hindi
  University of Jammu

- **Prof. Chaman lal Gupt** **Lesson No. 5 to 8**
  Retd. Professor
  Dept. of Hindi, Himachal
  Pradesh University, Shimla

- **Prof. Raj Kumar** **Lesson No. 9 to 12**
  Retd. Professor
  Dept. of Hindi
  Unversity of Jammu
  Jammu

Course Co-ordinator
Prof. Anju Sharma
CDOE

Teacher In-charge
Dr. Pooja Sharma
CDOE

Content Editing, Review and Proof Reading
Prof. Anju Sharma
Co-ordinator
P.G. Hindi

All rights reserved . No Part of this work may be reproduced in any form by mimeograph or any other means , without permission in writing from the CDOE , university of Jammu.

The Script writer shall be responsible or the lesson / script submitted to the DD&OE and any plagiarism shall be his/her entire responsibility.

Printed by : Glimpses of Future Press, Jammu /2024/Qty. 200

Syllabus of Master Degree Programme in Hindi Under Non CBCS
SEMESTER - 4TH

Title : Lok Sahitya Course

Code : HIN-405 | Maximum Marks : 100

Credits : 4 | a) Internal = 20

Duration of Examination : 3 Hrs | b) External = 80

Syllabus for the Examination to be held in 2023-2024 & 2025
(For the students of DDE, offsite campuses/PG colleges)

इकाई - एक

सम्पादक-डॉ. ओम प्रकाश गुप्त-'गीत-धरा अम्बर के'(सम्पूर्ण पुस्तक)

इकाई - दो

लोक साहित्य की परिभाषा, क्षेत्र तथा विशेषताएँ ।

लोक कथा की परिभाषाए विशेषताएँ तथा लोक कथा में कथा में कथा-अभिप्रायों की स्थिति।

लोकगीत की परिभाषाएँ, विशेषताएँ, लोकगीतों के विषयगत एवं सरंचनागत प्रकार।

मंत्र, लोक, लोकोक्ति, लोकनाट्य डोगरी लोकसाहित्य के सन्दर्भ में ।

इकाई - तीन

लोकगाथा, परिभाषा, स्वरूप, विशेषताएँ ।

शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य ।

लोक साहित्य और संस्कृति का अंतरावलोकन।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन में लोक साहित्य का महत्व ।

इकाई - चार

डोगरी लोकगीतों में श्रृंगार चित्रण ।

डोगरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण ।

डोगरी लोकगीतों में सामाजिक जीवन का चित्रण ।

डोगरी लोकगीतों में संस्कृति का चित्रण ।

प्रशनपत्र का प्रारूप

कोर्स कोड HIN-405 के प्रश्नपत्र का प्रारूप इस प्रकार होगा

मुख्य परीक्षा (External Exam) अंक-80 समय-तीन घण्टा

(क)	इकाई एक में निर्धारित पुस्तक से पाँच सप्रसंग व्याख्या पूछी जायेगी। विद्यार्थी को कोई तीन सप्रसंग व्याख्याएँ करनी होंगी।	(6 x 3 = 18)
(ख)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन दीर्घ उतरापेक्षी प्रश्न ।	(10 x 3 = 30)
(ग)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन लघु उतरापेक्षी प्रश्न ।	(6 x 3 = 18)
(घ)	शत-प्रतिशत विकल्प के साथ तीन अति लघु उतरापेक्षी प्रश्न।	(3 x 3 = 9)
(ड.)	पाँच वस्तुनिष्ठ विकल्परहित प्रश्न पूछे जायेंगे।	(1 x 5 = 5)

विषय सूची

क्र.	विषय	आलेख लेखक के नाम	पृष्ठ
1.	लोक-साहित्य की परिभाषा, क्षेत्र एवं विशेषताएं	डा. अशोक कुमार	2-8
2.	लोक कथा की परिभाषा, विशेषताएं तथा लोक कथा में लोक अभिप्रायों की स्थिति	डा. अशोक कुमार	9-17
3.	लोकगीत की परिभाषाएं, विशेषताएं, लोकगीतों के विषयगत तथा संरचनागत प्रकार	डा. अशोक कुमार	18-29
4.	मंत्र, लोकमानस, लोकोक्ति, लोकनाट्य डोगरी लोक साहित्य के सन्दर्भ में	डा. अशोक कुमार	30-53
5.	लोकगाथा : परिभाषा, स्वरूप, विशेषताएं	प्रो. चमनलाल गुप्त	54-74
6.	शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य	प्रो. चमनलाल गुप्त	75-92
7.	लोक साहित्य और लोक संस्कृति का अंतरावलबंन	प्रो. चमनलाल गुप्त	93-115
8.	हिन्दी साहित्य के अध्ययन में लोक साहित्य का महत्व	प्रो. चमनलाल गुप्त	116-135
9.	डोगरी लोक गीतों में श्रृंगार चित्रण	प्रो. राजकुमार	136-145
10.	डोगरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण	प्रो. राजकुमार	146-154
11.	डोगरी लोकगीतों में सामाजिक जीवन का चित्रण	प्रो. राजकुमार	155-166
12.	डोगरी लोकगीतों में 'संस्कृति' का चित्रण	प्रो. राजकुमार	167-180

Course Code : 405	Lesson No. 1

लोक-साहित्य की परिभाषा, क्षेत्र एवं विशेषताएं

रूपरेखा

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 लोक शब्द का अर्थ
1.4 लोक की विशेषताएं
1.5 लोक और सुसंस्कृत समाज
1.6 लोक साहित्य की परिभाषा
1.7 लोक साहित्य की विशेषताएँ
1.8 लोक साहित्य का क्षेत्र
1.9 सारांश
1.10 कठिन शब्द
1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- लोक शब्द का अर्थ जान सकेंगे
- लोक की विशेषताएँ की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- लोक और सुसंस्कृत समाज के सम्बन्ध को जान सकेंगे
- लोक साहित्य का अर्थ एवं स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- लोक साहित्य की विशेषताएँ एवं इसके क्षेत्र के प्रति अवगत हो सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

'लोक' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा है। ऋग्वेद में 'लोक' शब्द जन के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पुरुष सूक्त में इसका अर्थ जीव तथा स्थान है। अथर्ववेद में इसका अभिप्राय पार्थिव और दिव्य दो लोकों से है। जैमनीय उपनिषद का 'लोक' अनेक प्रकार से फैला हुआ, प्रत्येक वस्तु में प्रभूत और व्याप्त, और प्रयास करने पर भी अलभ्य है। पाणिनी ने 'लोक' से वेद की सत्ता को अलग स्वीकार किया है। महाभारत में 'लोक' शब्द का अर्थ साधारण जनता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी यही है। पुराणों में 'लोक' शब्द स्थान के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है, इसी शब्द से हिन्दी में 'लोग' शब्द बना जिसका अर्थ है-सामान्य जन। इसी अर्थ में 'लोक' शब्द साहित्य शब्द से पहले जुड़कर विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

1.3 लोक शब्द का अर्थ एवं स्वरूप

लोक साहित्य के विद्वानों ने भी 'लोक' शब्द पर विचार किया। यह शब्द अंग्रेजी के शब्द 'फोक' का पर्यायवाची है। एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका के अनुसार आदिम समाज के सभी सदस्य लोक हैं। विस्तृत अर्थ में सारी जनता 'फोक' है। 'फोकलोर', 'फोक म्यूजिक' आदि में फोक केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से परे हैं। डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' 'नगरों' और ग्रामों में फैली हुई, वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। डॉ० रवीन्द्र नाथ 'भ्रमर' के अनुसार 'गाँवों में ही नहीं वरन्, नगरों, जंगलों, पहाड़ों और टापुओं में बसा हुआ वह मानव समाज जो अपने परम्परा-प्रथित रीति रिवाजों और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील होने के कारण अशिक्षित एवं अल्प सभ्य कहा जाता है, 'लोक' का प्रतिनिधित्व करता है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के मत में जो लोक संस्कृत या परिष्कृत वर्ग से प्रभावित न होकर अपनी पुरातन स्थितियों में ही रहते हैं, वे 'लोक' होते हैं।' डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार-' 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।'

उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि वेद, पुराण और कुछ विद्वान 'लोक' का अर्थ साधारण जनता ही मानते हैं, लेकिन लोक साहित्य के विद्वान 'लोक' को जनता का वह वर्ग मानते हैं जो शिष्ट से अलग है; जो संस्कार और शास्त्रीयता से बंधा हुआ नहीं है और जो परम्परा और आदिम विश्वासों से जुड़ा हुआ है।

1.4 लोक की विशेषताएं

1. परम्परा-प्रथित रीति-रिवाजों और आदिम विश्वासों के प्रति आस्थाशील समूची जनता जो ग्रामों, नगरों, पहाड़ों आदि में फैली हुई है, वह लोक कहलाती है।
2. लोक के ज्ञान का आधार पुस्तकें नहीं हैं।
3. लोक सुसंस्कृत या परिष्कृत वर्ग और विज्ञान के विकास से अधिक प्रभावित नहीं होता।
4. लोक में अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता, पाण्डित्य और अहंकार नहीं होता।
5. लोक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।

1.5 लोक और सुसंस्कृत समाज

लोक सुसंस्कृत और शिक्षित समाज से भिन्न होता है। लोक के ज्ञान का आधार परम्परा से चले आ रहे विश्वास, रीति-रिवाज और अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान होता है, जबकि सुसंस्कृत और शिक्षित समाज शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त करता है। लोक द्वारा रचित साहित्य में लोकमानस के अवशेष होते हैं, जबकि सुसंस्कृत समाज के साहित्य में लोकमानस के अवशेषों की अभिव्यक्ति या तो नहीं होती, अगर होती भी है तो वह सहज और लोकमानस का पूरा अंग नहीं होती। लोक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है, जबकि सुसंस्कृत समाज परम्परा को प्राय: नकार कर चलता है। यह बात अलग है कि सुसंस्कृत वर्ग के व्यक्तियों में भी लोकमानस के अवशेष परोक्ष रूप में पाए जाते हैं। प्राय: हम देखते हैं कि अधिक पढ़े लिखे और वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले व्यक्ति भी शकुन-अपशकुन या दिन-वार के शुभ-अशुभ होने में विश्वास रखते हैं।

1.6 लोक साहित्य की परिभाषा

डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लोकसाहित्य की परिभाषा को निर्धारित करना कठिन मानते हुए भी यह परिभाषा प्रस्तुत की है- 'ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोकचित्र से सीधी उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोकसाहित्य लोकनाट्य, लोककथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं।' परिभाषा में आए शब्द 'लोक चित्र' के सन्दर्भ में डॉ० द्विवेदी का कहना है कि 'लोक चित्र से तात्पर्य उस जनता के चित्र से है जो परम्परा-प्रथित और बौद्धिक-विवेचनापरक शास्त्रों और उन पर की गयी टीका-टिप्पणियों के साहित्य से अपरिचित होता है।' डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार- 'सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली,

अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उसकी आशा–निराशा, हर्ष–विषाद, जीवन–मरण, लाभ–हानि, सु:ख–दु:ख की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसे लोक साहित्य कहते हैं।' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार–'वास्तव में लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक–समूह अपना मानता है।' डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार– 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें (अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों, (आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोकमानस की प्रवृत्ति में समाई हुई हो। (इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक–मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य, लोकमानस की सहज और मौखिक अभिव्यक्ति है, जो परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती है। इसका रचयिता अज्ञात होता है।

1.7 लोक साहित्य की विशेषताएँ

लोक साहित्य लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। शिष्ट साहित्य की तरह यह कृत्रिम नहीं होता। यह अभिव्यक्ति शिष्ट साहित्य की तरह लिखित नहीं होती और न ही इसका कोई एक रचयिता होता है। यह मौखिक परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, दूसरी से तीसरी पीढ़ी तक पहुंचती है और इसी तरह आगे बढ़ती रहती है। लोक साहित्य के रचयिता का नाम प्राय: अज्ञात रहता है। यह संभव है कि लोक साहित्य के अन्तर्गत आने वाली किसी रचना का कोई एक रचयिता हो, लेकिन लोक के हाथ में पड़ कर मूल रचना का स्वरूप समय के साथ परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तनों की प्रक्रियाओं से गुजरने वाली रचनाएँ किसी व्यक्ति की स्वतंत्र रचना नहीं कही जा सकतीं। इसीलिए लोक साहित्य का कोई रचयिता नहीं माना जाता, इसे लोकमानस की कृति कहा जाता है।

डॉ० शंकरलाल यादव का कहना है कि ''लोक साहित्य की शैली अनलंकृत होती है। यह शास्त्रीय रचना–पद्धति और व्याकरणिक नियमों से मुक्त रहता है।'' लोक साहित्य का रचना काल अज्ञात रहता है। डॉ० यादव का यह कहना भी है कि लोक साहित्य प्रचार या उपदेश की प्रवृत्ति से दूर होता है और उसमें सभी धर्म–सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता मिलती है।

1.8 लोक साहित्य का क्षेत्र

लोकमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति होने के कारण लोक साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। अभिजात साहित्य से इसकी तुलना करते हुए डॉ० सत्येन्द्र का इसके क्षेत्र के सन्दर्भ में कहना है कि– 'अभिजात साहित्य तो आज प्रायः समस्त ही लिपिबद्ध हो चुका है, और अब तक वही आदर की वस्तु माना जाता था। यह समस्त साहित्य विशाल विश्व और उसकी परम्परा को देखते हुए बहुत थोड़ा है और इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। यह बात लोक साहित्य के सम्बन्ध में नहीं।' डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय तथा अन्य विद्वान भी लोक साहित्य के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत मानते हैं। डॉ० उपाध्याय के अनुसार–'लोक साहित्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है। साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हँसती है, खेलती है, उन सब को लोक साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक साहित्य की व्यापकता मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक है तथा स्त्री, पुरुष, बच्चे, जवान तथा बूढ़े लोगों की सम्मिलित सम्पत्ति है।'

1.9 सारांश

संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोकमानस की समस्त अभिव्यक्ति लोक गीतों, लोक कथाओं, लोक गाथाओं, लोक नाट्यों, लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों और मंत्रो आदि के रूप में प्राप्त होती हैं। इसका सम्बन्ध किसी एक देश या क्षेत्र से न होकर पूरे विश्व के साथ है।

1.10 कठिन शब्द

1. अवशेष
2. अभिव्यक्ति
3. लोकमानस
4. मौखिक
5. स्वाभाविक
6. अभिव्यंजना
7. निरक्षर
8. अभिजात
9. सुसंस्कृत
10. प्रक्रिया

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लोक साहित्य की परिभाषाएँ देते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

----

2. लोक साहित्य की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

3. लोक और सुस्संकृत समाज पर प्रकाश डालिए।

4. लोक साहित्य के क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पुरुष सूक्त में लोक का अर्थ क्या है?

----

2. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' शब्द का अर्थ क्या है?

----

3. लोक साहित्य की किन्हीं दो विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. भारत में लोक साहित्य – डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय
2. लोक साहित्य के प्रतिमान – डॉ० कुन्दन लाल उप्रेती
3. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ० श्री राम शर्मा

Course Code : 405 **Lesson No. 2**

लोक कथा की परिभाषा, विशेषताएं तथा लोक कथा में लोक अभिप्रायों की स्थिति

रूपरेखा

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 लोक कथा की परिभाषा

2.4 लोक कथा की विशेषताएं

2.5 लोक कथा में अभिप्रायों की स्थिति

2.6 सारांश

2.7 कठिन शब्द

2.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख के अध्ययनोपरान्त आप

- लोक कथा अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
- लोक कथा की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- लोक कथा में अभिप्रायों की स्थिति से अवगत हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

कहानी लोक-मानस की मूल-भावना के रूप को स्थूल प्रतीक से अभिव्यक्त करती है। यह प्रयत्न जीवन के सभी क्षेत्रों में मिलता है। कहानी के हमें दो रूप मिलते हैं- (1) धर्मगाथा (Myth) (2) लोककथा। पुरानी होने के कारण धर्मगाथा को पौराणिक कथा कहा जाता है। ये गाथाएं पुराणों में भी उपलब्ध होती हैं। इन कथाओं में देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है। किसी भी धर्म गाथा के लिए यह आवश्यक है कि उसमें कही बात पर लोग विश्वास करते हों और उसमें धार्मिक आस्था हो।

2.3 लोक कथा की परिभाषा

लोक कथा का जन्म मानव जन्म के साथ हुआ है। यही कारण है कि कहानी कहने की कला सब कलाओं से पुरानी है। आदिम युग से ही मानव अपने सुख-दुख, रीति-रिवाज, आस्था, विश्वास और परम्परा को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत करता रहा है। डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लोककथा की परिभाषा देते हुए कहा है- 'लोककथा शब्द मोटे तौर पर लोक प्रचलित उन कथानकों के लिए व्यवहृत होता रहा है जो मौखिक या लिखित परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहे हैं।' डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार- 'लोक में प्रचलित और परम्परा से चली आने वाली मूलतः मौखिक रूप में प्रचलित कहानियां लोक कहानियां कहलाती हैं।' संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोकमानस से जुड़ी और लोक में परम्परा से मौखिक रूप में कही जाने वाली कहानी लोक कथा है।

2.4 लोक कथा की विशेषताएं

धर्म गाथा और लोक कथा से हटकर आजकल विभिन्न रचनाकारों द्वारा शिष्ट साहित्यिक कहानियां लिखी जा रही हैं। लोककथा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो उसे शिष्ट साहित्यिक कहानी से अलग पहचान देती हैं। लोककथा की निम्नलिखित विशेषताओं में से पहली आठ विशेषताएं डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा वर्णित हैं, शेष चार की ओर अन्य विद्वानों ने संकेत किया है:-

1. प्रेम का अभिन्न पुट
2. अश्लील श्रृंगार का अभाव
3. मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से निरन्तर साहचर्य
4. मंगल-कामना की भावना
5. संयोग में कथाओं का अन्त
6. रहस्य, रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता
7. उत्सुकता की भावना
8. वर्णन की स्वाभाविकता
9. आशावादी दृष्टिकोण

10. भाग्यवाद एवं कर्मवाद का समन्वय

11. प्रकृति–चित्रण का बाहुल्य

12. समानता की व्यापकता।

1. **प्रेम का अभिन्न पुट–** प्रेम का अभिन्न पुट अधिकांश लोक कथाओं में है। लोक कथाओं का जीवन से सम्बन्ध होने के कारण यहाँ प्रेम का वर्णन स्वाभाविक है। यह प्रेम कहीं पति का पत्नी के प्रति है तो कहीं भाई का बहन के प्रति। कुछ लोक कथाओं में माँ का बेटे के प्रति वात्सल्य भाव प्रकट हुआ है। बहिन अपने भाई की रक्षा के लिए अन्न–जल का त्याग कर विक्षिप्तों के समान घूमती हुई यश–पात्र बनती है। माँ गरीबी में अपने पेट को काटकर बेटे का पालन–पोषण करती हुई वात्सल्य का आदर्श उपस्थित करती है। पति और पत्नी का प्रेम वर्णन जो इन कथाओं में मिलता है, वह एक दिव्य और आदर्श प्रेम है; जिसमें कहीं भी अश्लीलता की गन्ध नहीं है।

2. **अश्लीलता का अभाव** – लोक कथाओं में कहीं भी अश्लील प्रेम का वर्णन नहीं है। उनमें वर्णित प्रेम दिव्य, अलौकिक और आदर्श है।

3. **मूल प्रवृत्तियों से निरन्तर साहचर्य–** लोककथाओं में वर्णित घटनाओं का साहचर्य हमारी शाश्वत मूल प्रवृत्तियों से है। सुख–दुःख, आशा–निराशा, काम–क्रोध, मद–लोभ आदि ऐसी ही मूल प्रवृत्तियां हैं जो लोक कथाओं में अभिन्न रूप में पाई जाती हैं।

4. **मंगल कामना की भावना** – इन कहानियों में मंगल कामना की भावना मुख्य रूप से पाई जाती है। प्रत्येक कथा के अन्त में सभी के मंगल की कामना की जाती है। जिस समय का सुख अमुक पात्र को मिला, वैसा सुख प्रत्येक श्रोता को मिले।' इस प्रकार का पद प्रत्येक कथा के अन्त में कहा जाता है। इनमें व्याप्त व्यष्टिमंगल ही लोकमंगल है। लोक कथाकार अपनी कहानियों में आदर्श घटनाओं को कहकर संसार में मंगल की कामना करता है।

5. **सुख और संयोग में कथाओं का अन्त–** लोक कथाओं में दुःख, वियोग, विपत्ति, हानि, निराशा आदि अनेक प्रसंगों का वर्णन हुआ है। कथा का पात्र अपने धर्म की रक्षा के लिए अथवा अन्य किसी कारण से अनेक कष्टों को भोगता है, लेकिन अन्त में उसे सुख और सफलता प्राप्त होती है। लोक कथाओं की यह मुख्य विशेषता है कि उनका अन्त दुःख में नहीं, सुख में होता है, वियोग में नहीं संयोग में होता है। कहानियों के अन्त में कथाकार श्रोताओं के सुख की कामना करता है। कहानियों का यह गुण भारतीय मनीषा पर आधारित है।

6. **रहस्य, रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता** – लोक कथाओं में रहस्य, रोमांच और अलौकिकता का अंश होता है। कुछ पात्र तो ऐसे वीर हैं, जो अलौकिक कार्यों को क्षण

मात्र में कर देते हैं, जैस-अमृत से जीव लौटाना अथवा घाव ठीक करना, असम्भव कार्य को करके दिखाना। इनके सुनने से श्रोताओं में अद्‌भुत रस की जागृति होती है। लोक कथाओं में दूसरे पात्र अलौकिक हैं जैसे- भूत, प्रेत, दानव, परी। इनके जीवन के प्रसंगों के श्रवण मात्र और कल्पना से अद्‌भुत रस की जागृति होती है।

7. **उत्सुकता की भावना–** लोक कथाओं में अद्‌भुत रस की प्रधानता के कारण श्रोताओं की जिज्ञासा आगे की कथा को निरन्तर सुनने के लिए बनी रहती है। जिस समय कथाकार कथा कहता है, उस समय श्रोताओं की भीड़, उनका बार-बार आगे की घटना को पूछना 'फिर क्या हुआ,' 'अच्छा' और 'हाँ' शब्द कथा सुनने में उत्सुकता को प्रकट करते हैं। आगे की घटनाओं को जानने की जिज्ञासा कहानियों की मुख्य विशेषता है।

8. **वर्णन की स्वाभाविकता–** लोक कथाओं के वर्णन में स्वाभाविकता होती है। कथानक की घटनाएँ, पात्र और कथन-शैली एक साथ इस प्रकार पिरोये रहते हैं कि उनमें कृत्रिमता का अनुभव नहीं होता। कथक्कड़ कथानक का बहुत सजीव और स्वाभाविक वर्णन करता है।

9. **आशावादी दृष्टिकोण –** लोक कथाओं के पात्र परिश्रम और उत्साह के साथ कठिन से कठिन कार्यों को करते हैं। कोई भी शक्ति इन्हें उनके उद्देश्य से विलग नहीं कर सकती। वे परिश्रम से शेरनी का दूध प्राप्त करते हैं, भूत, प्रेत और राक्षसों से युद्ध करके उन्हें जीतते हैं, भयावह जंगल इन्हें हतोत्साहित नहीं कर पाते, वे कल्पवृक्ष को उखाड़ लाते हैं और क्रुद्ध हाथी को अपने वश में कर लेते हैं।

10. **भाग्यवाद एवं कर्मवाद का समन्वय –** लोक कथाएँ भारतीय संस्कृति को प्रस्तुत करती हैं। उनमें भाग्यवाद तथा कर्मवाद का समन्वय है। भाग्य के समर्थन के साथ कर्म की उपेक्षा नहीं की गयी है। भाग्य की पूर्णता के लिए कर्म को आवश्यक माना गया है। भाग्यवाद के साथ कर्मवाद की भी प्रशंसा की गयी है।

11. **प्रकृति-चित्रण का बाहुल्य–** लोक कथाओं का उद्‌भव प्रकृति के सुरम्य प्रांगण में हुआ है और वे वहीं पर सुनी-सुनायी जाती हैं। इन कहानियों में तोता बोलता है, मोर नाचता है, सिंह न्याय करता है और वृक्ष साक्ष्य देता है। मैना, कोयल, कबूतरी और पिंडकुलिया 'हूँका' भरती हैं। कहानियों के श्रोता हैं- सियार, लोमड़ी, ऊँट, बकरी आदि। लोक कथाओं में प्रकृति और मानव एकाकार हो गये हैं। वे आपस में हँसते-बोलते हैं और एक-दूसरे के दु:ख में हाथ बटाते हैं।

12. **समानता की व्यापकता–** विश्व भर की लोक कथाओं में समानता है। जो कहानियाँ भारतवर्ष में सुनी-सुनायी जाती हैं, वही कहानियाँ पात्रों के नामों के अन्तर से दूसरे देशों में कही जाती हैं। लोक कथाओं की इस समानता के कई कारण हैं। भ्रमणशील मानव जब किसी देश में जाता है तो वह अपने यहाँ की कहानी को वहाँ के कथा-प्रेमियों को सुनाता

है और उनकी कहानियों को स्वयं सुनता है। इस व्यापक क्रिया के कारण कथाएं एक देश से दूसरे देश में फैली हैं। मानव के मानसिक धरातल की समानता के कारण और उसमें कल्पना तत्व की व्यापकता के कारण भी समान लोक कथाओं का विभिन्न देशों में जन्म हुआ है। जैसे बुन्देलखंड में प्रचलित 'सोने की चिड़िया', ग्रिम्स की 'फेयरी टेल्स' में 'गोल्डन बर्ड' के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं।

2.5 लोक कथा में अभिप्रायों की स्थिति

'अभिप्राय' शब्द अंग्रेजी के शब्द मोटिफ (Motif) ' का पर्यायवाची है। अभिप्राय को कथानक-रूढ़ि और कथा तन्तु भी कहा जाता है। कन्हैया लाल सहल अभिप्राय के लिए 'प्ररूढ़ि' शब्द का प्रयोग करते हैं।

लोक कथाओं का वैज्ञानिक अध्ययन बहुत सी लोक कथाओं की परस्पर तुलना से प्रारम्भ हुआ। पहले लोक कथाओं के अध्ययन के लिए कथा-मानक (Folk Tale Types) का उपयोग किया गया। कथा-मानक का उपयोग सीमित होने के कारण बाद में लोक कथा के अध्ययन के लिए अभिप्रायों का उपयोग किया जाने लगा। सर्वप्रथम आर्ने ने तुलनात्मक अध्ययन कर के कथा के प्रकारों या कथा-मानक का कोष तैयार किया। कथा मानक निर्धारित करने के लिए आर्ने ने कथाओं को उनमें आने वाली घटनाओं में विभाजित कर दिया। जैसे, शैतान की पराजय- 1. शैतान और मनुष्य के बीच एक शर्त। (2) मनुष्य शैतान को परास्त करता है। यही घटनाएं आगे चल कर अभिप्राय या मोटिफ (Motif) के रूप में लोक कथा के अध्ययन में सहायक हुई।

अभिप्राय का सर्वप्रथम अध्ययन अमरीका के विद्वान ब्लूमफील्ड ने किया, लेकिन अभिप्रायों को ठोस वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत करने का कार्य स्टिथ थामसन ने किया। स्टिथ थामसन के विचार में अभिप्राय कथा का लघुतम तत्व है, जो परम्परा में स्थिर रूप से रहने की शक्ति रखता है। इस प्रकार की शक्ति रखने के लिए उसमें कुछ असाधारणता और अपूर्वता होनी चाहिए। अभिप्राय कथानक के निर्माण तत्व हैं। असाधारणता के बिना कथा का कोई भी तत्व मोटिफ या अभिप्राय नहीं कहला सकता। उदाहरण के रूप में- 'मोहन कालीन पर खड़ा है।' यह मोटिफ नहीं है। अगर कालीन एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाला 'जादुई कालीन' है तो यह एक अभिप्राय है।

स्टिथ थामसन ने अभिप्रायों को तीन वर्गों में विभाजित किया- (1) कर्त्ता-कथाओं में देवता, असाधारण पशु, आश्चर्यजनक प्राणी, जैसे चुड़ैल, राक्षस, अप्सरा और परंपरित मानव चरित्र जैसे प्रिय सबसे छोटा बच्चा या क्रूर सौतेली मां। (2) कुछ ऐसी वस्तुएं जो कथा-व्यापार में काम आने वाली होती हैं। जादू की वस्तुएँ, असाधारण रिवाज, अनोखे विश्वास। (3) कुछ एक घटनाएं जिनमें बहुत से अभिप्राय आ जाते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि अभिप्राय कथानक के सभी अंगों को समेटे हुए

हैं। क्योंकि कथानक 'घटना', 'चरित्र' और 'कार्य' के मेल से बनता है। प्रत्येक लोक कथा में एक या एक से अधिक अभिप्राय होते हैं। लोक कथा की संरचना में अभिप्रायों का महत्वपूर्ण योग होता है। अभिप्रायों का प्रयोग कथा-प्रसंगों के बीच में रोचकता उत्पन्न करने के लिए, कथा को चमत्कारिक मोड़ देने के लिए, किसी पात्र का व्यक्तित्व उभारने या स्पष्ट करने के लिए, परिस्थितियों का परिचय देने के लिए या फिर कोई अन्य कार्य पूरा करने के लिए होता है। लोक कथा के निर्माण की महत्वपूर्ण इकाई होने के कारण लोककथा के विवेचन और विश्लेषण में भी कथा अभिप्रायों का महत्व है।

लोक कथाओं में अभिप्रायों का प्रयोग बार-बार होता है और वे जनसाधारण के लिए सुपरिचित होते हैं। अभिप्रायों के निर्माण के लिए असामान्य घटना का होना आवश्यक है। जनजीवन की सामान्य घटनाएं तथा वस्तुएं भी अभिप्राय की श्रेणी में आ सकती हैं अगर उनके साथ कोई चमत्कार जुड़ा हुआ हो। कौतूहलवर्द्धक घटनाएं भी अभिप्राय बन जाती हैं। जैसे सर्प द्वारा डस लेना। विश्व की लोक कथाओं में पाई जाने वाली समानता अभिप्रायों की समानता है। अभिप्रायों की संख्या बहुत अधिक है। अभिप्रायों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :-

दो भाई :- बहुत सी लोक कथाओं में दो भाइयों द्वारा मिलकर किसी विकराल दैत्य को मार कर सुन्दरी प्राप्त कर लेने की कथा का वर्णन मिलता है। राम-कथा में भी दो भाइयों-राम और लक्ष्मण द्वारा दैत्यों को मारने और धनुष भंग की कथा मिलती है। कृष्ण-बलराम द्वारा भी दैत्यों को मारने की कथा मिलती है।

वर्जन– आदम और हव्वा की कथा का मूल अभिप्राय वर्जन है। बहुत सी कथाओं में विशेष पात्र के लिए विशेष कक्ष में जाना वर्जित है।

पशु-पक्षियों द्वारा मनुष्य का पालन- भेड़ियों द्वारा मनुष्य के बच्चे को पालने की कथा मिलती है। दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा में शकुन्तला शकुन पक्षियों द्वारा रक्षित होती है।

2.6 सारांश

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि विभिन्न देशों की लोक कथाओं के रूप में अन्तर होता है। यह अन्तर सांस्कृतिक विभिन्नता और शैली में परिवर्तन के कारण होता है। इस अन्तर के लिए लोक कथा सुनाने वाले कथक्कड़ उत्तरदायी होते हैं। उनका मानसिक स्तर और भावनाएं, कथा की शैली में परिवर्तन का कारण होता है। कथक्कड़ की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण लोक कथाओं में सांस्कृतिक विभिन्नता होती है। शैव धर्म से प्रभावित कथक्कड़ कथा पर शैव रंग चढ़ा देता है और बौद्ध धर्म से प्रभावित बौद्ध धर्म का। विभिन्न प्रदेशों के कथक्कड़ अपने प्रदेश में मिलने वाले स्थानों, नदियों, पर्वतों, व्यक्तियों आदि के नाम लोक कथा में जोड़ देते हैं।

2.7 कठिन शब्द

1.	व्यवहृत	2.	पौराणिक
3.	परम्परा	4.	अलौकिकता
5.	बाहुल्य	6.	व्यापकता
7.	साहचर्य	8.	शाश्वत
9.	अभिप्राय	10.	कथक्कड़

2.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लोक कथा की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

   ----

2. लोक कथाओं में अभिप्रायों की क्या स्थिति है ? स्पष्ट कीजिए।

   ----

3. आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक कथा की क्या परिभाषा दी है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कहानी में लोक कथा के कितने रूप मिलते हैं?

----

2. लोक कथाओं की किन्हीं दो विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

----

3. अभिप्राय शब्द अंग्रेजी के किस शब्द का पयार्यवाची है?

----

4. कन्हैया लाल सहल अभिप्राय के लिए किस शब्द का प्रयोग करते हैं?

5. प्रसिद्ध विद्वान स्टिथ थामसन ने अभिप्रायों को कितने वर्गों में विभाजित किया है?

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. लोक साहित्य की भूमिका – कृष्ण देव उपाध्याय
2. हरियाणा का लोक साहित्य – डॉ० लालचन्द गुप्त मंगल
3. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ० श्रीराम शर्मा

लोकगीत की परिभाषाएं, विशेषताएं, लोकगीतों के विषयगत तथा संरचनागत प्रकार

रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 लोकगीत की परिभाषा

3.4 लोकगीतों की विशेषताएं

3.5 लोकगीतों का विषयगत प्रकार / वर्गीकरण

3.6 संरचनागत प्रकार

3.7 सारांश

3.8 कठिन शब्द

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

3.1 उद्देश्य

प्रस्तुत आलेख में आप लोकगीतों के बारें में जान सकेंगे

- लोकगीतों के सन्दर्भ में किन-किन विद्वानों ने क्या परिभाषाएँ दी हैं, जान पाएंगे।
- लोकगीतों की विशेषताओं एवं लोकगीतों के कितने प्रकार हैं, उनका वर्गीकरण किस आधार पर हुआ है जान सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

भारत में लोक गीतों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में लोक गीतों तथा गाथाओं का उल्लेख पाया जाता है। समस्त जनसमाज में चेतन-अचेतन रूप में, जो भावनाएं गीतबद्ध होकर अभिव्यक्त होती हैं, उन्हें 'लोकगीत' कहते हैं।

गीतों का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वानुभूति को अभिव्यक्त करने की इच्छा से है। महादेवी वर्मा 'सुख-दु:ख' की भावावेशमयी अवस्था का विशेषकर गिने-चुने शब्दों' में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत' मानती हैं। असभ्य आदि मानव के युग से ले कर आज तक सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ मानव अपने को गीतों में अभिव्यक्त करता रहा है।

3.3 लोकगीत भी परिभाषा

उसकी अभिव्यक्ति कभी लोकगीतों का रूप लेती रही है, तो कभी शिष्ट गीतों का। 'लोकगीत' शब्द अंग्रेजी के 'फॉक सांग' का पर्याय रूप माना गया है। लोकगीत को परिभाषित करते हुए ग्रिम लिखते हैं-A folk song composes itself (लोकगीत तो स्वत: जन्मा है।) पर्से आदिमानव के उल्लासमय संगीत को ही लोकगीत मानते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल लोकगीतों को संस्कृति से जोड़ते हुए कहते हैं-'लोकगीत किसी संस्कृति के मुँह बोलते चित्र हैं।' सूर्यकिरण पारीक लोकगीतों को मानव-हृदय की अभिव्यक्ति मानते हुए लिखते हैं- 'आदिम मनुष्य-हृदय के ज्ञानों का नाम लोकगीत है। मानव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करुणा की, उसके रुदन की, उसके समस्त सुख-दुख की...... कहानी इसमें चित्रित है।' लोकगीतों में उपलब्ध रस, लय और माधुर्य के सन्दर्भ में रामनरेश त्रिपाठी का मत है कि इनमें (लोकगीतों में) अलंकार नहीं, केवल रस है! छन्द नहीं, केवल लय है !! लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है!!!' के.बी. दास लोक गीतों को आदिम अवस्था में रहने वाले लोगों के जीवन के सहज उच्छलन की अभिव्यक्ति Spontaneous outflow of the life मानते हैं। डॉ. सत्येन्द्र लोकगीतों को लोकमानस से जोड़ते हैं- 'वह गीत जो लोकमानस की अभिव्यक्ति हो, अथवा जिसमें लोकमानसाभास भी हो लोकगीत के अन्तर्गत आएगा।' उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकगीत लोकमानस की ऐसी अभिव्यक्ति है जो जीवन के सुख-दु:ख, विभिन्न भाव और संस्कृति, रस, लय, और माधुर्य के साथ होती है।

3.4 लोकगीतों की विशेषताएं

डॉ० बाबुलकर के अनुसार लोकगीतों की विशेषताएं इस प्रकार हैं :-

1. गीत मौखिक परम्परा से सिंचित निधियाँ हैं।
2. इनमें नाम और यश की लालसा नहीं मिलती है।
3. ये बनते और बिगड़ते है। इसलिए इनकी मौलिक प्रति अप्राप्य है।
4. गीतों में संगीत और गेयता होती है।
5. इनमें लम्बे-चौड़े कथानकों का अभाव होता है।
6. देशकाल की सीमा का बन्धन उनके साथ नहीं होता है।
7. ये अपौरुषेय (यानी पुरुष द्वारा नहीं, स्त्रियों द्वारा रचित) काव्य हैं।
8. इनमें जीवन के अभाव व्यक्त होते हैं, अंकित नहीं।
9. इसमें मानव संस्कृति का सारल्य और भावों का व्यापक उभार होता है।
10. कृत्रिमता के अभाव में लोक की ये स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं।
11. इनकी भाषा लोक की बोली है। इनमें ग्राम्यांचल की प्रकृति, वातावरण, मानव-जीवन, ऋतु आदि का चित्रण होता है।
12. श्री देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा संकेतित विशेषता है कि जनपद की कन्याएँ इन्हें ले जाती अथवा लाती हैं।
13. डा० श्याम परमार के अनुसार नारी हृदय की विशालता, जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सम्बन्ध, मानव-विकास की निधियाँ, भावों के अशेष भंडार एवं लय- इनकी विशेषता है।
14. फ्रेंच विद्वान मोशिए, आपरे द्वारा संकेतिक विशेषता यह है कि अंत्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि साम्य का प्रयोग, पुनरुक्ति, तीन-पाँच-सात संख्याओं का बार-बार प्रयोग, नाम जोड़ने की प्रवृत्ति, बाट जोहना, प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति।

सामूहिक भाव-भूमि, लोक-कल्याण की दृष्टि, सामूहिक वृत्ति तथा सामान्य स्वच्छन्दता है।

3.5 लोकगीतों का विषयगत प्रकार/ वर्गीकरण

डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय का विचार है कि 'लोकगीतों का वर्ण्य विषय इतना अधिक व्यापक है कि उनका वर्गीकरण कठिन हो जाता है।' लोक साहित्य के विद्वानों ने लोकगीतों का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से किया है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'लोक साहित्य विज्ञान' में क्षेत्र, जाति, क्रिया, अवस्था, योनि, रसानुभूति की प्रणाली, रूप, प्रकृति और वस्तु (विषय) की दृष्टि से वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए केवल नामों की गणना की है। अन्य विद्वानों देवेन्द्र सत्यार्थी, रामनरेश त्रिपाठी, सूर्यकरण पारीक, डॉ० श्याम परमार, डॉ० श्यामाचरण दुबे, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ० कुन्दन लाल उप्रेती, डॉ० श्रीराम शर्मा आदि ने भी शुद्ध रूप से विषयगत वर्गीकरण न करके या तो डॉ० सत्येन्द्र द्वारा गिनाए आधारों का मिश्रण कर दिया है या विषयगत आधार के अतिरिक्त किसी एक अन्य आधार को प्रस्तुत किया है।

डॉ० सत्येन्द्र ने वस्तु (विषय) के आधार पर लोकगीतों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है, जो नामों की गिनती तक सीमित है :

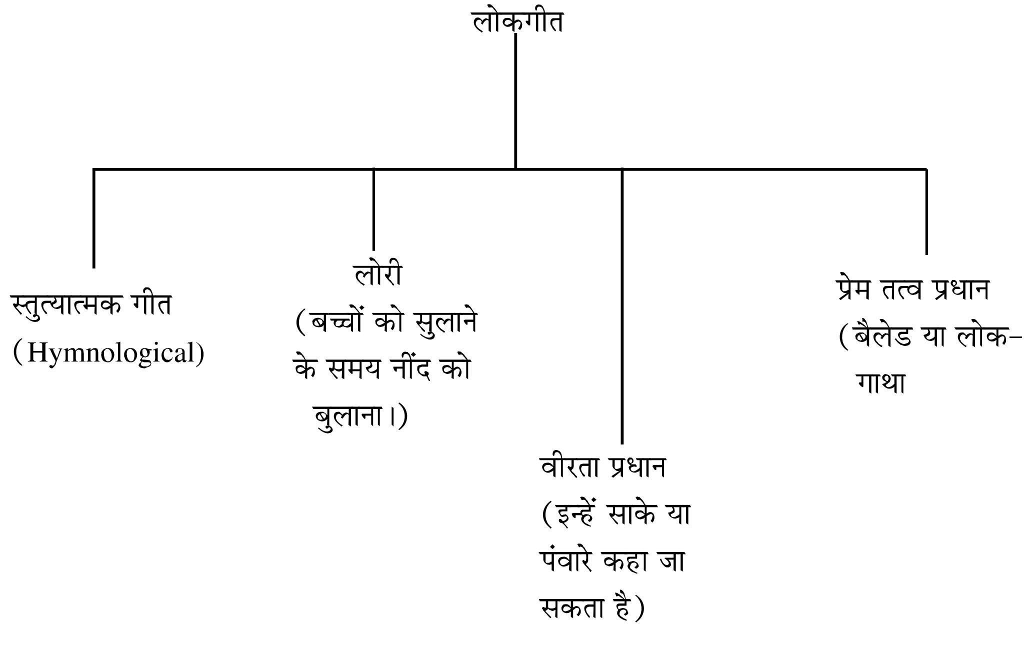

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि डॉ० सत्येन्द्र लोक गाथा को लोकगीत का एक भेद मानते हैं। महाराष्ट्र में वीरता प्रधान कथा-गीत जिसे पंवारे कहा जाता है, वह भी लोक गाथा का ही एक भेद है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय लोकगीत और लोक गाथा में भेद करते हैं। उनका मत है कि यह भेद विषय और रूप के आधार पर है।

लोक साहित्य के बहुत से अन्य विद्वान लोक गाथा को लोकगीत का प्रकार मानते हुए भी इसका अलग से विश्लेषण-विवेचन करते हैं।

यह कहा जा चुका है कि विषय की दृष्टि से लोकगीतों का वर्गीकरण एक कठिन समस्या है, फिर भी लोकगीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है:

स्तुत्यात्मक गीत- विभिन्न देवी-देवताओं से संबंधित गीतों में विभिन्न उद्देश्यों - पुत्र प्राप्ति, उसकी दीर्घायु आदि-की प्राप्ति के लिए पूजा की जाती है और व्रत रखा जाता है। ऐसे गीतों में घरेलू निष्ठा, प्रचलित विश्वास, पारिवारिक विचार और मान्यताएं मिलती हैं। छपरा क्षेत्र में प्राप्त होने वाले गीत निर्गुण भक्ति के हैं, उनमें ईश्वर की स्तुति की गई है।

लोरी के गीत- इस प्रकार के गीतों में वात्सल्य का भाव उभर कर आता है। देवेन्द्र सत्यार्थी का कहना है कि 'ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है, लोरी भी बड़ी होती जाती है। जितनी जल्दी शिशु चलता है, उतनी ही तेजी से गुजराती लोरी का ताल चलता है।' लोरियों में कहीं मां बच्चे की नींद को बुलाती है, कहीं शिशु के आभूषणों का वर्णन होता है, कहीं उसकी चाल का वर्णन है, कहीं जन्म-दिन मनाने का, कहीं शिशु की मुस्कान है तो कहीं वह चंदा मामा को पकड़ना चाहता है। शिशु के प्रति मां की इच्छाओं का कोई अंत नहीं है, शिशु तो उसके लिए राजा के समान है।

बच्चों के खेल के गीत- खेलने के योग्य हो जाने पर विभिन्न खेलों या किसी विशेष खेल के समय बच्चे विशेष गीत गाते हैं, जो उसी खेल से जुड़ा होता है। ऐसे गीत प्रायः संक्षिप्त होते हैं।

वर संबंधी गीत- वर संबंधी गीतों में वर की वेश-भूषा से संबंधित सेहरे का वर्णन प्रमुख रूप से हुआ है। पीठी, हल्दी, मेंहदी, सेवरा, घोड़ी आदि भी गीतों के विषय बने हैं।

वर की खोज सम्बन्धी गीतों में माता द्वारा पुत्री के लिए योग्य वर खोजने का आग्रह, पुत्री द्वारा सुन्दर वर खोजने के लिए पिता से प्रार्थना, योग्य वर न मिलने पर पिता की चिन्ता और व्याकुलता का चित्रण मिलता है।

नेग मांगना- मुण्डन, यज्ञोपवीत और विवाह से संबंधित गीतों में बहिन द्वारा पिता से नेग मांगने या लड़के की बुआ, द्वारा नेग मांगने का वर्णन किया गया है।

विधि-विधान- यज्ञोपवीत के गीतों में इस संस्कार से संबंधित विधि-विधानों का वर्णन होता है।

पुत्र-जन्म के गीत- सोहर और खेलवना लोकगीत पुत्र-जन्म के अवसर पर गाए जाते हैं। सोहर में रतिक्रीड़ा, गर्भाधान, गर्भिनी की शरीर यष्टि, प्रसव-पीड़ा, दोहद, धाय को बुलाना और पुत्र जन्म का वर्णन होता है। दोहद में गर्भवती स्त्री की विभिन्न वस्तुओं को खाने की इच्छा का वर्णन होता है। सद्म:जात शिशु का रुदन, माता का आनन्द, सास की प्रसन्नता, पिता का हर्ष आदि खेलवना के मुख्य विषय हैं।

सोहर-गीतों में वन्ध्या स्त्रियों की करुणा और हृदय को हिला देने वाली पुत्री-जन्म की आशंका का वर्णन भी होता है।

गवना के गीत- विवाह के पश्चात पुत्री की विदाई के विषय से संबंधित गीतों में विषाद के दृश्य और करुण रस पाया जाता है। भाई का बहिन की पालकी के पीछे-पीछे चलते हुए रोना; वधु का अपने माता-पिता, भाई-बहिन के वियोग से दुखी होकर रोना, कल्पना और बिलखना, सास का जमाता को यह उपदेश देना कि वह उसकी प्राणों से प्यारी पुत्री को प्रेम और आदर के साथ रखे; माता का पुत्री के भावी-वियोग जन्य दुख के कारण रोना आदि विषय लोक गीतों में पाए जाते हैं।

मृत्यु गीत- इनमें मरने वालों के गुणों का उल्लेख, उसकी मृत्यु से उत्पन्न होने वाले दुखों का वर्णन, मृत व्यक्ति के प्रिय पदार्थों का नाम ले-ले कर शोक प्रकट करना, गोदान, अगर मृत्यु विदेश में हुई है तो मृतक को वहां न जाने देने की चर्चा आदि विषय होते हैं।

श्रृंगार और प्रेम तत्व प्रधान गीत- प्रेम तत्व प्रधान गीतों में छोटे और बड़े गीत हैं। छोटे गीतों में कथा नहीं होती। ऋतु-संबंधी गीतों में कजली एक ऐसा ही गीत है जिसमें संयोग और वियोग दोनों का चित्रण है। इसमें राधा-कृष्ण का झूला झूलना, पति-पत्नी की प्रेम लीला, उनका झूला-झूलना, मनचलों के कारण ननद का भावज को कजली खेलने से मना करना, वर्षा में कपड़ों का भीगना, प्रवासी प्रियतम को स्मरण करते हुए उसकी राह देखना, प्रियतम के अभाव में विरह की अभिव्यक्ति आदि का चित्रण मिलता है। 'फाग' और 'चैता' नामक लोकगीतों में भी संयोग के चित्र मिलते हैं। 'बारह मासा' में वियोग का वर्णन प्रधान रूप से होता है।

प्रेम तत्व प्रधान ऐसे गीत जिनमें कथा रहती है और जो आकार की दृष्टि से बड़े होते हैं उन्हें लोकगाथा कहा जाता है। इनमें प्रेम संबन्धी घटनाओं का उल्लेख होता है। विषम वातावरण में उत्पन्न प्रेम उसी में पलता है। प्रेम का परिणाम भी विषम होता है। 'हीर रांझा', 'विहुला', 'कुसुमा देवी' 'लचिया' आदि ऐसे ही गीत हैं।

वीरता प्रधान गीत - वीर कथात्मक गीत भी लोक गाथा की श्रेणी में आते हैं। इनमें किसी वीर के साहसपूर्ण, शौर्यपूर्ण कार्य और अलौकिक वीरता का वर्णन होता है। वीर पुरुष कहीं आपदा-ग्रस्त अबला का उद्धार करता दिखाई देता है, कहीं शत्रुओं का सामना करता हुआ, और कहीं न्याय पक्ष की विजय के लिए युद्ध में संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है।

स्त्रियों के दुखी जीवन संबंधी गीत - स्त्रियों के दुखी जीवन, विशेष रूप से ससुराल में प्राप्त होने वाले दुखों से संबंधित लोकगीत श्रम करते समय भी गाए जाते हैं। धान रोपते समय एक स्त्री अपने पति से शिकायत करती है कि जब से मैं यहां पर आई हूँ तब से काम करते-करते मेरे शरीर का चाम सूख गया है और सुख सपना हो गया है। 'सोहनी' के गीतों में कहीं बहू का सास द्वारा सताये जाने का विवरण है तो कहीं पत्नी के आचरण पर सन्देह करके पति द्वारा उसकी अग्नि-परीक्षा लेने का उल्लेख है।

उल्लास और मस्ती के गीत- होली और बसन्त ऋतु से संबंधित लोकगीतों में आनन्द, उल्लास और मस्ती का वर्णन मिलता है। होली आने पर लड़की अपनी मां से कहती है कि मुझे पिता जी से कह कर चुनरी मंगवा दो, चाचा जी से कह कर चूड़ा मंगवा दो, मैं फाग खेलने जाऊंगी।

3.6 संरचनागत प्रकार (भेद)

डॉ० सत्येन्द्र ने लोकगीतों के दो रूप माने हैं - 1. मुक्तक 2. प्रबन्धात्मक। मुक्तक को उन्होंने पुनः दो भागों में बांटा है - (क) भाव-बिन्दु वाले (ख) कथा-बिन्दु वाले। प्रबन्ध-गीत में एक कथानक रहता है, जो लघु या बृहत हो सकता है। डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय लोकगीत और कथात्मक आधार वाली लोकगाथा में विषयगत और स्वरूपगत अन्तर मानते हैं।

लोकगीतों की संरचना में अभिप्राय उन तत्वों से हैं जिनसे लोकगीत का निर्माण होता है। मुक्तक गीतों में प्रथम तत्व एक 'टेक' है जो ध्यान को आकर्षित करती है। यह 'टेक' गीत में दुहराई जाती है। टेक को शास्त्रीय संगीत में 'स्थायी' कहा जाता है टेक के पश्चात गीत का 'मूलरूप विधान' प्रस्तुत होता है जिसे 'झड़' भी कहते हैं, डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार इसके निम्नलिखित अंग माने जाते हैं :

1. **रीढ़** - मूल रूप-विधान जिन शब्दाधारों पर टिकता है, वही गीत की रीढ़ है। इसके मुख्य भाव की विवृति की जाती है। रीढ़ को अंतरा भी कहते हैं।

2. **स्वर-संभरण** - रीढ़ के ऊपर गीत का मूल लय-रूप खड़ा करने के लिए जो स्वर-तत्व संयुक्त किया जाता है, वह स्वर संभरण है। यही गीत को निजी रूप प्रदान करता है। लोकगीतों में छंद की अपेक्षा लय का संरक्षण होता है। लोकगीतकार को मात्रादि का ज्ञान नहीं होता वह केवल लय को जानता है।

3. **स्वरांलकरण** - गीत में सामान्यत: इतनी लोच होती है कि वह गायक के आवेग-आवेश को अपनी लय में समाविष्ट कर सकता है। स्वरालंकरण की तुलना शास्त्रीय संगीत की 'तान' और 'अलंकार' से की जा सकती है। इससे गीत में सौन्दर्य उत्पन्न होता है। लोकगायक स्वरों के उतार-चढ़ाव के साथ हे, हो, हरे, अरे आदि शब्दों की योजना भी करता है।

   आरोह और अवरोह भी स्वरालंकरण के तत्व हैं। गीत में भावावेश होने पर स्वर का आरोह होता है। इसका प्रतिरूप अवरोह है। लोकगीतों में विशेष स्फुट होते हैं - टूट और दुहरावट स्वर को आवश्यक आरोह देकर छोड़ देना 'टूट' कहलाता है। फिर उसी स्वर को 'आरोह' देना दुहरावट कहलाता है।

4. **तोड़ या मिलान** - तोड़ गीत के मूल रूप विधान (झड़) का अंतिम अंग है। अंतरा को समाप्त करने के पश्चात् गायक स्वर के आरोह और अवरोह के साथ अपनी स्थायी लय (स्वर संभरण) प्राप्त करता है। गीत के इसी अंग को तोड़ या मिलान कहते हैं। इसे गाने के पश्चात गीत की टेक की पुनरावृति की जाती है।

5. **भरती** - गीत की झड़ गाने के पश्चात् गीत के प्रभाव की निरन्तरता बनाए रखने के लिए कुछ पदों की योजना की जाती है, जिन्हें भरती कहा जाता है। भक्तिपरक गीतों में 'हरे', हरि गुन गाइयै आदि पद भरती के अन्तर्गत आते हैं।

6. **मोड़** - मोड़ प्राय: भरती से संबंधित होता है। एक झड़ को गाकर दूसरी झड़ गाने के लिए प्रवेश करने को मोड़ कहते हैं। एक ही झड़ के गायन में स्थाई से अन्तरा तथा अन्तरा से तोड़ में प्रवेश करने को भी मोड़ कहा जाता है।

गीत-निर्माण के उपयुर्क्त तत्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व रंगत विधान की चर्चा भी की जाती है जिसका सम्बन्ध गीत की रचना से न होकर गायन की शैली से है। श्रोताओं को प्रभावित करने के लिए गीत के मुख्य भाव को छन्द परिवर्तित करके गाया जाता है, इसे रंगत-विधान कहते हैं।

प्रबन्ध गीतों में एक लम्बी कथा होती है। कोई-कोई कथा महाकाव्यों से भी स्पर्धा करती है। प्रबन्ध गीतों में टेक होती है जिसे बार-बार दुहराया जाता है। दुहराने से गीत का आनन्द बढ़ता है। कहीं-कहीं टेक पदों को सामूहिक रूप से गाया जाता है। गवैया जब गीत की एक कड़ी गाता है तब समुदाय के अन्य लोग मिलकर टेक-पदों की आवृत्ति करते हैं। प्रबन्ध गीतों में टेक की आवृत्ति कई प्रकार से की जाती है। वह टेक पद जो किसी गीत की प्रत्येक पंक्ति के बाद आता है, उसे बर्डेन कहा जाता है। अवधि के एक गीत में 'बलैया लेऊँ बीख' इसी प्रकार की टेक है। कहीं-कहीं इस प्रकार का टेक-पद गीत की प्रत्येक पंक्ति के साथ जुड़े रहते हैं।

प्रबन्ध गीत में प्रत्येक नये पद्य के बाद एक पूरे पद्य की आवृति होती है, इसे कोरस कहा जाता है। राजस्थान के 'ओलूँ' के गीतों में यह लक्षण पाया जाता है।

कुछ पदों की जब निश्चित स्थान तथा समय के पश्चात् आवृत्ति पाई जाती है तब इसे 'रिफ्रेन' कहा जाता है।

3.7 सारांश

संक्षेप में कहा जा सकता है कि लोकगीत जीवन के सुख-दुःख से सम्बन्धित हैं, इसलिए वे सभी प्रसंग और भाव जो उल्लास, हर्ष, शोक और विषाद से सम्बन्धित हैं, लोकगीतों का विषय हैं। लोक गीत लोककंठ की मौखिक परम्परा की धरोहर हैं। इसीलिए इन्हें लोकमानस की विविध चित्रवृत्तियों के कोष कहा जाता है। लोक गीत साधारण जनमानस की अन्तरतम संवेदनाओं की लयात्मक अभिव्यक्ति है। लोकगीत भावाकुल हृदय की सहज, सरल, अनायास अभिव्यक्ति हैं। यह समूची संस्कृति के पहरेदार हैं।

3.8 कठिन शब्द

1. भावावेशमयी
2. स्वानुभूति
3. लालित्य
4. कृत्रिमता
5. अपौरुषेय
6. रसानुभूति
7. संरचना
8. आवृति
9. प्रतिरूप
10. संभरण

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरापेक्षी

1. लोक गीत किसे कहते हैं ? विभिन्न परिभाषाएँ देते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

----

2. लोकगीतों के विषयगत एवं संरचनागत प्रकार का विवेचन कीजिए।

----

3. लोकगीतों के विषयगत प्रकार पर प्रकाश डालें।

----

4. लोकगीतों के संरचनागत प्रकार पर प्रकाश डालें।

लघु उत्तरापेक्षी प्रश्न

1. लोकगीत का सम्बन्ध किससे है ?

----

2. लोक गीत की किन्हीं दो विशेषताओं को व्याख्यायित करें।

----

3. डॉ० सत्येन्द्र ने वस्तु के आधार पर लोकगीतों का किस प्रकार वर्णन किया है?

----

4. लोकगीतों के मुख्य दो कौन से रूप हैं?

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. हरियाणा का लोक साहित्य – डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल'
2. लोक साहित्य के प्रतिमान – डॉ० कुन्दन लाल उप्रेती
3. लोक साहित्य की संस्कृति और परम्परा – डॉ० मनोहर शर्मा

मंत्र, लोकमानस, लोकोक्ति, लोकनाट्य
डोगरी लोक साहित्य के सन्दर्भ में

रूपरेखा

4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 मंत्र
4.4 मानस
4.5 लोकोक्ति
4.6 लोकनाटक
4.7 लोक नाटक की परिभाषा
4.8 लोक नाटक के प्रकार
4.9 लोक रंगमंच
4.10 कारक
4.11 बार
4.12 भाख
4.13 झंझोटी
4.14 तरोड़क
4.15 बिसन पत्ते
4.16 डोगरी मंत्र
4.17 डोगरी लोक नाटक

4.18 सारांश

4.19 कठिन शब्द

4.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.21 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

4.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख में आप लोकवार्ता परम्परा में 'मंत्र' का सम्बन्ध किससे जोड़ा है समझ सकेंगे
  - लोकमानस लोकतत्व का निर्धारक है जान पाएंगे।
  - लोकोक्ति की उत्पत्ति के आधार क्या है समझ सकेंगे।
  - लोक नाटक, लोक नाटक की परिभाषा, लोक नाटक के प्रकार जान पाएंगे।
  - डोगरी लोक कथाओं में कारक, बार, किसे कहते हैं समझ सकेंगे।
  - भाख, बिसनपत्ते, झंझोटी, तरोड़क, डोगरी मंत्र तथा डोगरी लोकनाटक के बारे में जान सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

लोक साहित्य की परम्परा कदाचित् उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी मनुष्य जाति। अब तो यह माना जाता है कि भाषा का उद्‌गम ही संगीतात्मक था। बाद में धीरे-धीरे गद्य-भाषा और संगीत ये तत्व दो पृथक महत्वपूर्ण सामाजिक-संस्थाओं के रूप में विकसित हुए। किन्तु लोक गीतों, लोक कथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की परम्परा सनातन से मौखिक रही। लोक साहित्य किसी देश की सभ्यता एवं संस्कृति का सजग प्रहरी होता। यह लोक-जीवन की भाव-सम्पदा का उन्नायक व संरक्षक होता है।

4.3 मंत्र

मंत्र में टोने या मैजिक तत्व की प्रधानता के कारण डॉ० सत्येन्द्र ने इसे लोक-साहित्य के क्षेत्र की वस्तु माना है। मनुष्य के मुख से उत्पन्न उस ध्वनि को मंत्र कहते हैं जिसके संबंध में लोगों को विश्वास है कि वह अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम है। वैदिक ऋचाएं मंत्रों का प्राचीन रूप हैं। वैदिक मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। सभी वेद मंत्र अनुष्ठान से संबंधित हैं। मंत्रों के साथ टोने की भावना जुड़ी हुई है, इसलिए यह कहा जाता है कि विधि के साथ उच्चारण करने से फल की प्राप्ति होती है, अशुद्ध उच्चारण से

समस्त क्रिया भ्रष्ट हो जाती है। आरण्यक में जब यज्ञ का अनुष्ठान मानसिक हुआ तब मंत्र की सत्ता अनुष्ठान से पृथक हुई। यज्ञ के स्थूल स्वरूप से अलग होने पर मंत्रों के साथ अर्थ तो रहा परन्तु अर्थ का अर्थ्य के साथ सम्बन्ध टूट गया। मंत्र का अर्थ क्या है? किसके लिए है? क्यों है? ये बातें महत्वहीन हो गई।

लोकवार्ता की परम्परा में मंत्रों का संबंध शिव से जोड़ा जाता है। यह माना जाता है कि शिव जी के मुख से निकले हुए निरर्थक शब्द मंत्र हो गए। लोक में निरर्थक शब्द विशिष्ट व्यक्ति से संबद्ध हो कर मंत्र का कार्य करते हैं। ये मंत्र अनुष्ठान का अंग नहीं हैं, परन्तु इनकी सिद्धि के लिए कुछ अनुष्ठान आवश्यक हैं। वैदिक भूमि त्याग कर मंत्रों का संबंध पहले सिद्धों फिर नाथों के साथ हुआ। अब मंत्र शुद्ध टोने के रूप में हैं। टोने और मंत्र का घनिष्ट संबंध है। मंत्र का सारा प्रपंच किन्हीं निर्वैयक्तिक शक्तियों से संचालित होता है। ये शक्तियां नियमों में बंध कर चलती हैं। जो इनके रहस्य को जानता है वह मन्त्र का प्रयोग करके मनोनुकूल फल प्राप्त करने के लिए शक्तियों को विवश कर देता है। यहीं मंत्र-टोना देवताओं की स्तुति से अलग हो जाता है। स्तुति में हम देवताओं को फुसलाते हैं विवश नहीं करते।

डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार 'टोना मस्तिष्क की अत्यन्त सीधी-सादी और अत्यन्त प्रारंभिक प्रक्रियाओं का भ्रामक उपयोग है।' टोने का जन्म आदिम मानस की देन है। इसके पीछे मन की शक्ति पर विश्वास करने का सिद्धान्त कार्य करता है। मन की शक्ति में विश्वास का कारण आदिम-मानस की वह वृत्ति है जिसे प्राकल्पना (फेण्टसी थिंकिंग) कहा जाता है। मन की शान्ति को किसी क्रिया से सक्रिय करके अभीष्ट को पूर्ण करना ही टोने का उपयोग करना है।

शब्द की ध्वनि मनुष्य को आकर्षित और प्रभावित करती है। इसी कारण आदिम मानव ने ध्वनि को शक्तिवान सत्ता माना होगा और अनुभव किया होगा कि प्रकृति में कोई शक्ति है जो शब्द-रूप में प्रकट होकर उसे प्रभावित करती है। केवल उसे ही नहीं अन्य प्राणियों और पदार्थों को भी प्रभावित करती है। शब्द की सत्ता ने ही उसमें मन जैसी शक्ति का विश्वास जगाया होगा। अपनी अभेद वृत्ति के आधार पर उसने शब्द और मन की शक्ति को एक समझा होगा, तभी से शब्द ही मंत्र हो गया होगा।

हमें मंत्रों के तीन रूप मिलते हैं। 1. परम्परागत मंत्र शब्दों ने मंत्रों का एक निश्चित रूप धारण कर लिया और वे विशेष साधना (तांत्रिक) के आधार तत्व बन गए। हीं, क्लीं आदि शब्द ऐसे ही मंत्र हैं। मंत्रों का दूसरा रूप व्यक्तिपरक है जिसमें किसी सिद्ध या देवता की दुहाई और आन का उपयोग होता है। तीसरे वे मंत्र हैं, जो उच्चवर्ग में परम्परा से प्रयोग हो रहे हैं, जैसे वेद

मंत्र। प्रथम कोटि के मंत्र विशिष्ट साधनाओं (तांत्रिक) से संबंधित है और सिद्धिप्रद माने जाते हैं। इनकी साधना गुह्य रूप में की जाती है। इनकी संख्या और रूप निश्चित हैं। दूसरी कोटि के मंत्र सिद्ध पुरुषों द्वारा बोले गए शब्द हैं, जिनमें अर्थ का नितान्त अभाव हो सकता है। कोई भी व्यक्ति इन्हें विधि से काम में लाकर इष्ट साधन कर सकता है।

4.4 लोकमानस

आज के वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग में भी व्यक्ति अलौकिक कथाओं और अद्‌भुत कहानियों में आकर्षण अनुभव करता है। आज भी ऐसे विश्वास प्रचलित हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती। मानव की ऐसी सभी वृत्तियों को लोकवार्ताविद आदिम मानव की वृत्ति का अवशेष मानते हैं। ऐसी वृत्तियां हमें दाय से प्राप्त हुई हैं। ये वृत्तियां हमारे मानस में अवस्थित हैं। फ्रायड ने मानस के तीन भाग किए थे - चेतन, अवचेतन और अचेतन। फ्रायड के पश्चात् अन्य मनोवैज्ञानिकों ने मानस का एक तीसरा भेद अर्द्धचेतन भी माना जो चेतन की सीमा पर स्थित होता है।

अवचेतन के दो भेद मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किए - 1. सहज अवचेतन या उत्तराधिकारेय मानस 2. ऐतिहासिक या उपार्जित अवचेतन। मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार उपार्जित अवचेतन का निर्माण कुण्ठाओं और दमित वासनाओं से हुआ है। सहज अवचेतन का निर्माण दो तत्वों से हुआ है - (क) आदिम उत्तराधिकरण - यह मानव के मन की गति का प्राकृतिक दाय है। (ख) ऐतिहासिक उत्तराधिकरण - आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य के संस्कारों और संस्कृति का विकास होता रहा है। इस विकास से उपलब्ध मानसिक संस्कार आज भी हमारी रूचि और प्रवृत्ति के मूल में अदृश्य रूप से रहते हैं। इन मानसिक संस्कारों का संबंध आदिम मानसिक संस्थान के सूत्रों से होता है। दाय से मिली सभी प्रवृत्तियों सहज अवचेतन में रहती हैं यही सहज अवचेतन लोकमानस है। यह लोकमानस एक व्यक्ति का होते हुए भी सभी व्यक्तियों में 'सामान्य मानस-धर्म' के रूप में विद्यमान है। जैसे कोई भी मनुष्य एक व्यक्ति भी है और मनुष्यों के समूह का सदस्य भी है। एक व्यक्ति के रूप में उसकी कुछ निजी विशेषताएं हो सकती हैं, परन्तु समूह में अन्य मनुष्यों के साथ वह भी मनुष्य कहलाता है। सभी मनुष्यों का मनुष्य कहलाना कुछ सामान्य शारीरिक विशेषताओं पर निर्भर है। इसी तरह लोकमानस सामूहिक होता है। इसका प्रत्यक्षीकरण मानव की अभिव्यक्ति के माध्यम से होता है। आज तक जितनी भी अभिव्यक्तियां हैं, उनके विश्लेषण से ही लोकमानस की स्थिति और उसके स्वरूप का ज्ञान होता है।

लोकमानस मानव की प्रकृति का एक अंग है। यह मानव-प्रकृति के रूढ़ मूल स्वरूप के अनुसार ढलता है और अपने रूढ़ मूल तत्वों का कभी त्याग नहीं करता। इसका संबंध किसी वर्ग या जाति (Race) से न होकर सर्वत्र फैले मानस के साथ है। लोकमानस लोकतत्व का निर्धारक है।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोकमानस के निम्न चार तत्व स्वीकार किए हैं :

1. यथार्थ और कल्पना में भेद करने की असमर्थता। [प्राकल्पना (फैंटेसी थिंकिंग)]
2. प्राणि-अप्राणि, 'जड़-चेतन' को आत्मा से युक्त जानना। [आत्मशीलता (ऐनिमिस्टिक थिंकिंग)]
3. यह विश्वास होना कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है। [टोना विचारणा (मैजिकल थिंकिंग)]
4. यह विश्वास होना कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट प्राप्त होगा। [आनुष्ठानिक विचारणा (रिचुअल थिंकिंग)]

उपर्युक्त लोकमानस के तत्वों के कारण निम्नलिखित परिणाम होते हैं :

1. सत्य और स्वप्न में भेद न करना – इससे मानव इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि उसके दो अस्तित्व हैं। एक उसके शरीर से सम्बद्ध है दूसरा जो उसके स्वप्न में घूमता-फिरता है।
2. शरीर और छाया में अभेद – मानव का छाया को भी अपने शरीर जैसा महत्त्वपूर्ण मानना।
3. मृतक को सोया हुआ मानना – व्यक्ति का यह मानना कि मृतक की 'आत्मा' कहीं भटक गई है। वह लौट आएगी। शव को सुरक्षित रख कर भोजनादि वस्तुएं उसके पास रखना।
4. भूत-प्रेतों में विश्वास – बहुत सी जंगली जातियां मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं, पेड़ों और पत्थरों के भूत होने में विश्वास करती हैं।
5. जड़ पदार्थों को आत्मतत्व से युक्त देखना – वृक्ष, पहाड़, नदी, नाले चेतन मानवों की भांति कार्य करते हैं।

6. क्रम के संयोग से कार्य-कारण की कल्पना – उदाहरणार्थ- बहुत दिनों से लगातार वर्षा हो रही है, अचानक तवा उल्टा होकर आंगन में गिर पड़ता है, इसके बाद संयोग से वर्षा बंद हो जाती है, तो यह मान लेना कि आंगन में तवा उल्टा रखने से वर्षा बंद हो जाती है।

7. तुल्य को तुल्य से प्रभावित करना – पुतले को मनुष्य मान लेना, उसमें सुई चुभो कर मनुष्य की मृत्यु में विश्वास करना।

8. अंश से अंशी को प्रभावित करना – किसी के नाम, वस्त्र, शरीर के अंश, जैसे बाल, नाखुन आदि से उसे प्रभावित करना।

9. विशेष विधि से अनुष्ठान करने से अभीष्ट की सिद्धि।

10. संतान धारण और संभोग क्रिया में कार्य-कारण का संबंध हैं, इसका ज्ञान न होने के कारण देवी-देवताओं और पीर-पैगम्बरों से संतान के लिए याचना करना।

11. व्यक्ति का अस्तित्व न मान कर दल का अस्तित्व मानना – इसके परिणामस्वरूप कुछ आदिम जातियों में यह मिलेगा कि पुरुष की समवयस्क स्त्रियां उसकी बहिनें मानी जाती हैं। जिस दल में पुरुष का विवाह हुआ हो उस दल की सभी ऐसी स्त्रियां जो उसकी पत्नी की समवयस्क हैं, उसकी पत्नी के समकक्ष मानी जाती हैं।

4.5 लोकोक्ति

लोकोक्ति लोक की उक्ति है जिसका निर्माण तो एक व्यक्ति की उक्ति के रूप में हुआ होगा, लेकिन जीवन के अनुभव और ज्ञान से संबंधित होने के कारण वह व्यक्ति-विशेष की उक्ति न रहकर लोक की उक्ति हो गई। लोक की उक्ति के रूप में इसके अन्तर्गत कहावतें, मुहावरे, पहेलियां आदि आ जाती हैं, लेकिन आज यह शब्द कहावतों के पर्याय रूप में रूढ़ हो गया है। कहावत के लिए संस्कृत में प्रवाद, आभाणक लोक प्रवाद, लौकिक गाथा आदि और अंग्रेजी में Proverb शब्द समानार्थी हैं।

डॉ० एम. एस. दक्षिणामूर्ति के अनुसार '-कहावत सामान्यत: संक्षिप्त, सारगर्भित और प्रभावशाली उक्ति है, जिसमें जीवन की दृष्टि की अनुभूतियां स्पष्टत: झलकती हैं और जो परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रख कर प्रयोग में लायी जाती हैं।' डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल कहावतों में ज्ञान और अनुभव का समावेश मानते हैं।

लोकोक्तियों का आरंभ जनजीवन के प्रारंभिक काल से माना जाता है। ये सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। डॉ० कुन्दनलाल उप्रेती का मत है कि जनजीवन में इनका स्थान नीतिशास्त्र के समान है। आदिम असभ्य समाज से लेकर आज के शिष्ट समाज में भी इनकी स्थिति निरंतर बनी हुई है। कहीं ये सामाजिक रूप में अवस्थित हैं तो कहीं ऐतिहासिक रूप में। लोक तथा समाज के आचार विचार, रीति रिवाज, धार्मिक तथा नैतिक सम्बन्धों का उल्लेख इनमें स्पष्ट रूप से देखने को मिल जाता है। अतः प्रत्येक काल में इनसे समाज का पथ-प्रदर्शन होता रहा है।

लोकोक्तियों का प्रयोग शिष्ट साहित्य में भी मिलता है। वेदों और उपनिषदों में भी लोकोक्तियां दिखाई पड़ती हैं। संस्कृत के प्रायः सभी कवियों, हिन्दी के कवियों, निबन्धकारों और कथाकारों ने भी लोकोक्तियों का प्रयोग करके अपनी भाषा को प्रभावी बनाया है।

लोकोक्तियों की उत्पत्ति के तीन प्रमुख आधार माने जाते हैं :

1. लोककथाएं – प्रत्येक कहावत के पीछे कोई न कोई घटना अवश्य होती है जो व्यक्ति के अनुभव से जुड़ी होती है। कभी-कभी अभिप्रायों से युक्त कहावतों के पीछे एक कथा होती है। 'वह ऐसा चला गया जैसे गधे के सर से सींग' इसी प्रकार की लोकोक्ति है। लोककथाओं से मिलने वाली शिक्षा को भी लोकोक्ति के रूप में रखने का प्रयत्न हुआ है।

2. ऐतिहासिक घटनाएं – ऐतिहासिक व्यक्तियों के मुख से निकले वाक्य भी लोकोक्तियों का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे शेरशाह का यह कथन – 'एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैंने दिल्ली का राज्य खो दिया'।

3. प्राज्ञ-वचन – कभी-कभी कवियों की उक्तियां भी लोकोक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।

लोकोक्तियों के रूप और वर्ण्य विषय को दृष्टि में रख कर डॉ० कन्हैयालाल सहल ने लोकोक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

1. ऐतिहासिक कहावतें 2. स्थान संबंधी कहावतें 3. समाज से संबंधित कहावतें – जाति संबंधी कहावतें, नारी संबंधी कहावतें, 4. शिक्षा, ज्ञान और साहित्य – शिक्षा संबंधी कहावतें, मनोवैज्ञानिक कहावतें, साहित्य में कहावतें 5. धर्म और जीवन दर्शन – धर्म और ईश्वर विषयक कहावतें, शकुन-संबंधी कहावतें, लोकविश्वास संबंधी कहावतें, जीवन-दर्शन संबंधी कहावतें।

6. कृषि संबंधी कहावतें 7. वर्षा-संबंधी कहावतें 8. प्रकीर्ण। व्यापक रूप से देखा जाए तो सभी कहावतें सामाजिक होती हैं। इनमें लोकसंस्कृति का प्रतिबिम्ब मिलता है।

लोकोक्तियों की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. ज्ञान और अनुभव से युक्त - कहावतों में लोकजीवन का अनुभव, सूक्ष्म निरीक्षण और ज्ञान होता है जो प्रायः एक तर्क का काम करता है।
2. अज्ञात रचयिता - लोकोक्ति की रचना आरंभ में किसी एक व्यक्ति द्वारा होती है। बाद में यह लोक की वस्तु हो जाती है और रचयिता का नाम कोई नहीं लेता, लेकिन घाघ और भड्डरी की कहावतें अपवाद हैं।
3. सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक - कहावतें लोक या व्यक्ति का अनुभव और ज्ञान हैं, इन्हें किसी देश या काल की सीमा में नहीं बांधा जा सकता।
4. रसमयता - लोकोक्तियों में रस होता है। यही कारण है कि बार-बार व्यवहार में लाए जाने पर भी व्यक्ति इनसे ऊबता नहीं है।
5. लाघवत्व - लोकोक्तियों का आकार लघु होता है, लेकिन इनका प्रभाव अत्यधिक होता है। डॉ० सत्येन्द्र का कहना है कि इनमें 'गागर में सागर' भरा होता है। ये लघु होते हुए भी सार गर्भित होती हैं।
6. सरलता - कहावतों की भाषा सरल होती है। सरलता ही इनकी प्रमुख विशेषता है। कहावत सुनते ही उसका अर्थ हृदयंगम हो जाता है।
7. लय या गति - लोकोक्तियां लयात्मक अभिव्यक्ति हैं। बहुत सी लोकोक्तियां गेय होती हैं, उदाहरण के रूप में : उत्तम खेती मध्यम बान अधम चाकरी भीख निदान।
8. तुक - बहुत सी लोकोक्तियों में तुक और अनुप्रास का प्रयोग मिलता है, जिसके कारण उनकी शक्ति और प्रभाव बढ़ जाता है। उदाहरण के रूप में - 'सांच कू आंच न'।

4.6 लोकनाटक

बहुत से विद्वान आदिकाल में मानव द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति को शरीर के अंगों द्वारा संकेत से संप्रेषित करने को लोकनाट्य का आरंभिक रूप मानते हैं। आगे चलकर मानव चेतना और सामाजिकता के विकास के साथ अपनी अभिनय की प्रवृत्ति को मानव ने नाट्यकला में परिवर्तित

कर दिया। नाट्यकला के विकास में मानव ने पशु-पक्षियों से भी बहुत कुछ सीखा होगा। नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० रिजले का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतक पूजा से हुई। डॉ० पिशेल ने कठपुतलियों और कीथ ने ऋतु-उत्सवों में होने वाले नृत्यों से नाटक की उत्पत्ति मानी है। मैक्समूलर ऋग्वेद के कुछ संवादों को नाटकीय संवादों के रूप में स्वीकार करते हैं। भारत में पुराण-काल तथा महाकाव्य-काल में कठपुतलियों का वर्णन मिलता है। बृहत्कथा तथा पंचतंत्र में भी कठपुतलियों का उल्लेख है। लोकनाटकों के विकास में भक्ति आंदोलन का विशेष महत्त्व है। रामलीला और रासलीला जैसे लोकनाट्य इसी आंदोलन की देन हैं। डॉ० शंकर लाल यादव का मत है कि रामलीला और रासलीला से पहले 'नकल' के प्रकार का एक लोकनाट्य प्रचलित था। जो वर्तमान भगत या नौंटकी का पूर्व रूप है।

वर्तमान में प्रचलित लोक नाटकों का विकास 15-16वीं शताब्दी के बाद माना जाता है। ब्रज और हरियाणा के 'स्वांग', ब्रज की 'रासलीला', भोजपुरी की 'रामलीला', आसाम का 'अंकिया', हिमाचल का 'करिमाला', मिथिला का 'कीर्तनिया', महाराष्ट्र का 'गोंधल' और 'तमाशा', उत्तरी बिहार का 'जट-जटिन', बंगाल की 'जात्रा', उत्तरप्रदेश का 'नकल' और 'नौंटकी', गुजरात का भवाई, मालवा का 'माच', बिहार का विदेसिया आदि लोकनाटक 15-16वीं शताब्दी के बाद के माने जाते हैं। लोकनाटक की उत्पत्ति संबंधी मत चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लोकनाटक अत्यन्त प्राचीन है। भरतमुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में नाटक की दो धर्मिताएं मानी हैं – लोकधर्मी और नाट्य धर्मी। लोकधर्मी वह है जो स्वाभाविक है, नाट्यधर्मी वह है जो विभाव है। भरत ने नाट्य धर्मी के पीछे भी लोकमानस है, इसे अस्वीकार नहीं किया। यह शास्त्रीय नियमों में बद्ध शिष्ट नाटक है।

4.7 लोकनाटक की परिभाषा

डॉ० श्याम परमार के अनुसार – 'लोकनाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।' डॉ० नगेन्द्र ने लोकनाटकों में लोकवार्ता तत्व पर बल देते हुए कहा है- 'लोकनाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोककथानकों, लोकविश्वासों और लोकतत्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।'

संक्षेप में लोकनाटक को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है :

लोकनाटक लोक द्वारा रचित है और लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति है। इसमें लोकपरम्परा तथा नाट्य-रूढ़ियों का प्रदर्शन लोकमंच पर होता है, जो व्यावसायिक न होकर अखाड़े के रूप में गली-गलियारों में विद्यमान रहता है।

4.8 लोकनाटक के प्रकार

डॉ० सत्येन्द्र ने लोकनाटक के चार प्रमुख प्रकार स्वीकार किए हैं – 1. नृत्यप्रधान-आजकल रास के रूप में मिलने वाला नाटक नृत्य प्रधान है। इसमें पात्र नृत्य करते हैं, गाने का काम प्रायः संगीत-मंडली करती है। 2. नाट्य हास्य प्रधान-भांड नाट्य हास्य प्रधान है। इसमें हास्य-व्यंग्य की प्रधानता रहती है। 3. संगीत प्रधान कथाबद्ध – इनमें संगीतबद्ध संवादों की प्रधानता होती है। ये कथाबद्ध होते है। नौंटकी, भगत, माँच इसी के भेद हैं। 4. नाट्यवार्ता प्रधान – इनमें नाट्य और सामान्य रूप से बातचीत रहती है। संगीत का उपयोग यदाकदा ही होता है।

डॉ० कुन्दनलाल उप्रेती ने डॉ० जगदीश चन्द्र माथुर और डॉ० श्याम परमार द्वारा निर्दिष्ट लोकनाटक की विशेषताओं पर विचार करते हुए संक्षेप में लोकनाटक की निम्न विशेषताएं मानी हैं :

1. **कथानक** – लोकनाटकों का कथानक प्रायः पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक होता है। लोकनाट्यकार कथानक के किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता। वह आवश्यकता पड़ने पर लोककथा तथा कल्पना से भी काम चलाता है। उसका दृष्टिकोण प्रायः समाजवादी होता है। अधिकांश लोकनाट्य प्रेमगाथाओं से सम्बन्धित होते हैं।

   लोकनाट्यों में कथानक के दो रूप मिलते हैं – पहले वे जो मुख्य कथा के साथ रात में देर तक चलते हैं। ऐसे कथानकों में घुमाव नहीं होता परन्तु छोटे-छोटे प्रसंगों के द्वारा उनमें विस्तार होता जाता है। दूसरे कथानक वे हैं जिन्हें लघुप्रहसन कहा जाता है। इनमें लोकपरक अनुभूति और मनोरंजन का स्वस्थ स्वरूप देखने को मिलता है।

   लोकनाट्यों का कथाप्रवाह शिथिल होता है और शिल्प-कौशल परिष्कृत नहीं होता। ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों से जनता पूर्ण परिचित रहती है दर्शक चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की अपेक्षा नहीं करते। उनका उद्देश्य रसानुभूति द्वारा तृप्ति प्राप्त करना होता है न कि मनोरंजन।

2. **पात्र** – लोकनाट्यों के पात्र अपनी स्थानीय विशेषताओं से युक्त होते हैं। ये पात्र एक विशिष्ट प्रकार के होते हैं। प्राय: अधिकांश पात्र समाजगत प्रवृत्तियों के चालक होते हैं - खूसट बुड्ढा, सौत, ढोंगी साधु, कर्कशा स्त्रियाँ आदि ऐसे ही पात्र हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्रों में भी स्थानीय रंग अभिव्यक्त होता है।

   पात्र अपनी परम्परागत शैली में मंच पर अभिनय करते हैं। किस गीत के साथ कैसा अभिनय संवाद या नृत्य होगा, यह रूढ़ हो गया है। परिणामत: लोकनाट्यों का सम्पूर्ण आनन्द उसकी परम्परागत शैली में निहित है।

3. **चरित्र-चित्रण** – ऐतिहासिक एंव धार्मिक लोकनाट्यों के चरित्र प्राय: जाने-पहचाने होते हैं अत: उनकी चरित्रगत विशेषताओं को स्थूल रूप से ही प्रस्तुत किया जाता है वे सूक्ष्म भावनाओं को केवल संवादों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्राय: देखा गया है कि स्त्रियों के अभिनय के लिए भी पुरुष-वेश ही धारण किया जाता है। विदूषक हास-परिहास के माध्यम से चरित्र के आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करता है।

4. **अभिनय** – लोकनाट्यों में समूहगत अभिनय को महत्व दिया जाता है। समाज अथवा जाति की भावनाएं ही संयुक्त-अभिनय के द्वारा अभिव्यक्ति होती हैं। नृत्य, अभिनय का प्रमुख माध्यम होता है नृत्य के ही हावों-भावों का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता है। भावावेगों की अभिव्यक्ति पद्यमय अधिक होती है। गद्य भी होता है तो अत्यन्त ही सरल एवं सहज।

5. **रूपयोजना तथा प्रसाधन** – प्राय: लोकनाट्यों में सजीले प्रसाधन, अलंकार एवं चमकीले तथा भड़कीले वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, गेरू, सफेदा, मुर्दासिंगी आदि साधनों से ही मुँह को पोतकर या मुखौटा लगाकर पात्र रंगीन वस्त्र धारण कर मंच पर आते हैं। स्त्रियों के अभिनय में पुरुष पात्र स्त्रियोचित सभी अंलकारों को धारण करता है। मूछें छिपा लेता है और घूँघट काढ़ लेता है।

6. **संगीत-योजना** – लोकनाट्यों का प्राण संगीत है। हारमोनियम, नगाड़ा, ढोलक, मंझीरे, करताल, चिकारा, सारंगी, बाँसुरी आदि वाद्यों के अतिरिक्त अन्य वाद्यों का उपयोग भी लोकनाट्यों में किया जाता है। संगीत की शैली के द्वारा ही लोकनाट्यों में आंचलिकता का समावेश हो जाता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक वाद्य लोकनाट्यों में बजते ही रहते हैं।

7. **उद्देश्य** – यद्यपि लोकनाट्यों का उद्देश्य शिक्षा तथा उपदेश देना भी है परन्तु मूल उद्देश्य लोक का मनोरंजन ही है। मनोरंजन के साथ-साथ लोकजीवन के रीतिरिवाज, आचार-विचार तथा उत्सव-त्यौहार का प्रदर्शन करना भी लोकनाट्यों का उद्देश्य है। हास्य के माध्यम से भी जनता का मनोरंजन विदूषक आदि पात्र करते हैं।

8. **भाषा तथा संवाद** – लोकनाट्यों की भाषा काव्यात्मक होती है। पद्यात्मक भाषा तथा संवादों द्वारा लोक की कल्पनाशक्ति भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है। गद्य का उपयोग या तो विदूषक, भाँड आदि करते हैं या जहाँ इतिवृत्त प्रसंग आते हैं वहाँ होता है। संवाद भी प्राय: पद्यात्मक होते हैं। बीच-बीच में एक-आध वाक्य गद्य के आते हैं। शब्द-योजना, एवं वाक्यगठन चमत्कार प्रदर्शन से दूर अनगढ़ होता है। कहीं-कहीं पर आवश्यक रूपक, उपमा आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग देखने को मिलता है। भाषा सरल, सहज तथा लोकजीवन की ही होती है।

9. **लोकवार्ता का समावेश** – "लोकविश्वास, परम्परागत मान्यताएं, रीति-रिवाज, अभिप्राय आदि लोकधर्मी नाटकों में कथानक, संवाद, संगीत और अभिनय के साथ आबद्ध हैं। आंचलिकता इनमें भरी हुई है। लौकिक आचारों के साथ लोकभाषा की सम्पत्ति-गीत, कथाएं, मुहावरों और स्थानीय बोलियों के ध्वन्यात्मक प्रयोग मंच पर पात्रों द्वारा प्रकट होते हैं।"

10. **लोकमंच** – लोकमंच अत्यन्त ही साधारण कोटि का आडम्बरहीन होता है। यह प्राय: खुला हुआ घरेलू ढंग का होता है। मन्दिर का आंगन हो या चौपाले-चौराहा हो या चबूतरा, लोकनाट्य का मंच है। किसी ऊँचे स्थान पर बल्लियों से मंच बनाकर तख्त डाल दिया जाता है। परदों का उपयोग कम से कम किया जाता है। पर्दे बदलने की प्रथा भी लोकनाट्यों में नहीं होती।

उपयुर्क्त इन्हीं विशेषताओं के कारण लोकनाट्य जनता में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। वास्तव में लोकनाट्य की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक नाट्यों का लोकजीवन से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि लोक के प्रत्येक उत्सव, त्यौहार, मांगलिक अवसर एवं कार्यों के समय, इनके अभिनय के बिना, कार्यों तथा उत्सवों को सम्पन्न नहीं माना जाता। आज भी होली आदि विशेष त्यौहारों पर या शादी-बारातों में लोकनाट्यों का खुलकर अभिनय होता है जो उसकी लोकप्रियता को ही सिद्ध करता है।

डा० सत्येन्द्र ने लोकनाट्य के निम्नलिखित तन्तु स्वीकार किए हैं –

1. **अखाड़ा** – (क) गुरु या उस्ताद (ख) मुख्य प्रबन्धक या खलीफा
(ग) गायक शिष्य वर्ग (घ) संगीत रचयिता
(ङ) वाद्यंत्र

2. **अभ्यास** - (क) शिष्यत्व या अनुष्ठान (ख) खेल या नाट्य के अभ्यासारम्भ का अनुष्ठान
(ग) शिक्षा की प्रक्रिया तथा परिपाटी (घ) पात्र चयन
(ङ) अभ्यासकाल में अन्य बातें

3. **संगीत** – (क) संगीत की वस्तु (ख) वस्तु में संगीत नियोजन
(ग) भाषा–विधान (घ) अलंकार तथा रस–विधान
(ङ) अभिप्राय तथा संदेश (च) संगीत संशोधन प्रणाली
(छ) नए प्रयोगों का प्रयत्न (ज) नाटकीयता का समावेश

4. **रंगमंच** – (क) स्थापन का अनुष्ठान (ख) रंगमंच का स्वरूप
(ग) नेपथ्य का स्वरूप (घ) रंगमंच की सज्जा
(ङ) प्रकाश–विज्ञान (च) वाद्यंत्र
(छ) अभिनय प्रकार (ज) भूलमार्जन के साधन (प्रांप्टर)
(झ) आरम्भ, उसकी शैली (ञ) अन्त और उसकी शैली

5. **विज्ञापन प्रकार** –

6. **प्रबन्धादि** –

4.9 लोक रंगमंच

रंगमंच के बिना नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती। लोकनाटकों का रंगमंच शिष्ट नाटकों से अलग होता है। लोकनाटकों का रंगमंच खुला होता है, कहीं चौपाल या चबूतरे को मंच के रूप में प्रयोग किया जाता है तो कहीं आवश्यकतानुसार दो–चार तख्ते डालकर रंगमंच बना लिया जाता है। सभी पात्र एक साथ रंगमंच पर आ जाते हैं और नाटक समाप्त होने तक वहीं बैठे रहते हैं। बड़े–बड़े नगरों में रामलीला, रामलीला स्वांग, नौंटकी और भगत लोकनाटकों का ऊँचा मंच बनाया जाता है और उसे फूल, गुब्बारों, पत्तियों, डालियों आदि से सजाया जाता है। गांवों में तख्त आदि डालकर बनाए जाने वाले मंचों की सज्जा नहीं की जाती।

नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिए रंगमंच स्थापना का अनुष्ठान किया जाता है। अनुष्ठान सभी लोकनाटकों का अंग नहीं है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार अनुष्ठानगत कुछ रंग परंपराए निम्नलिखित हैं :

1. मंच के लिए दर्शक–खचित उसी के बीच की धरती, अथवा दर्शक सहित कोई भी निरपेक्ष स्थान।
2. रूप–सज्जा के लिए कुमकुम, खड़िया, गेरू, काजल और मुर्दाशंख।
3. प्रकाश के लिए मशाल।
4. वस्त्र–सज्जा के लिए सामान्य कपड़े–पर गीतों की कड़ियों में लिपटकर व पात्रानुकूल अनुभूत होने लगते हैं।
5. कभी–कभी चेहरों पर मुखौटे और अतिरिक्त रूप–सज्जा।
6. रंग–प्रसाधन के लिए सही वस्तु की नकल–जैसे घोड़े के लिए काठ का घोड़ा और उस पर बैठा हुआ जैसे यथार्थ सवार।
7. गति और कार्य से दृश्य, स्थान, काल तथा उसके परिवर्तन का सहजबोध।

डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार लोकरंगमंच की निम्न विशेषताएं है :

रंगमंच की सज्जा – जब दर्शकों की अपार संख्या का अनुमान हो तो बहुत ऊँचा मंच बनाया जाता है और उस पर साजिन्दों के बैठने की पृथक् व्यवस्था रहती है। पात्रों के विशेष सिंहासनों आदि की व्यवस्था की जाती है।

प्रकाश-विधान – यह भी दर्शकों की अनुमानित संख्या के आधार पर ही व्यवस्थित रहता है। लोक–जीवन में जहाँ विद्युत या गैस के हण्डों की व्यवस्था नहीं हो सकती, वहाँ मशाल जलाकर प्रकाश–व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त, बड़े–बड़े सकोरों में अंडी (एरण्ड) के बीजों को डालकर उसमें आग लगा दी जाती है तथा उससे प्रकाश–व्यवस्था कर ली जाती है। जाड़ों की ऋतु में अलाव पर अग्नि प्रज्जवलित करके भी प्रकाश–व्यवस्था में योगदान किया जाता है।

वाद्ययंत्र – लोकनाट्यों में वाद्य–वृन्द की योजना रंग मंच की ओर रहती है। हारमोनियम, सारंगी, मृदंग, नक्कारा, नफीरी, ढोलक, ढफ, झाँझ, मंजीरा, चीमटा आदि वाद्य रहते हैं।

अभिनय प्रकार – लोकनाटकों में आंगिक और वाचिक अभिनय का उपयोग किया जाता है। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत ही हाव-भाव मुद्राएं आती हैं, जिनका प्रचुर प्रयोग लोकनाट्यों में किया जाता है। यह अभिनय एकांकी न होकर गीत एवं नृत्य से समन्वित होता है।

भूल मार्जन के साधनों में नाटक मंडली के मुखिए या संचालक को पूरा लोक-नाट्य याद होता है और जब कभी कोई पात्र अपना संवाद भूल रहा होता है या अशुद्ध बोल जाता है, तो वह प्रायः महत्त्वपूर्ण वाद्ययंत्र पर बैठा-बैठा ही उसे संभाल लेता है।

आरम्भ और उसकी शैली – लोकनाट्यों के प्रारम्भ की शैली रोचक होती है। प्रारम्भिक परिचय एवं माहात्म्य आदि पर निर्देशक प्रकाश डालता है और फिर लोकनाट्य का प्रारम्भ किया जाता है। प्रायः प्रदर्शन के पूर्व किसी देवी देवता का स्तवन किया जाता है।

अंत और उसकी शैली – लोकनाट्यों का अन्त प्रायः सुखान्त होता है। अन्त में स्थानीय देवी-देवताओं या परमात्मा के किसी प्रचलित स्वरूप का नाम लेकर 'जयकारा' बोला जाता है। रामलीला में हनुमान को आदरपूर्वक विदा किया जाता है।

4.10 कारक

कारक डोगरी लोकगाथाओं का एक प्रकार है, इसमें देवी-देवताओं, सन्त-महापुरुषों संबंधी पठ्यबद्ध आख्यान रहता है। कारकों में देवी-देवताओं आदि के प्रति आस्था मिलती है और उनकी स्तुति की जाती है। धर्म, नैतिकता, त्याग, बलिदान और न्याय का भाव इनमें प्रमुखता से प्राप्त होता है। डॉ० ओमप्रकाश गुप्त के अनुसार- 'ये (कारकें) ऐसे महापुरुषों की गाथाएं हैं जो अपने अलौकिक कृत्यों के कारण लोकमानस में विशेष सम्मान के पात्र हुए। कारक धर्म क्षेत्र की वस्तु है। इसलिए इसे धर्म-गाथा के साथ संबद्ध किया जा सकता है।' देवी-देवताओं, संतों और शहीदों की समाधियों और मंदिरों में कारकें एक निश्चित दिन पर गाई जाती हैं। कारकें गाने वाले 'योगी', 'दरेस' और 'गारड़ी' लोगों के घरों में जाकर भी कारकें गाते हैं। कारकों की धुनों में लगभग समानता पाई जाती है।

महाकाव्यों की भांति कारकों के आरंभ में प्रायः देवी-देवता या ईश्वर की वंदना होती है और फिर आख्यान का आरंभ होता है। बीच-बीच में सफलता के लिए प्रार्थना की जाती है। सभी कारकों का अंत शिक्षा-प्रदान करने के साथ होता है, जैसे जो आते हैं और स्मरण करते हैं उनको फल प्राप्त होता है भक्तों को संतान प्राप्त होती है। बहिनें भाइयों से मिलती हैं आदि। कारकों में पात्रों की संख्या बहुत कम होती है।

डुग्गर-क्षेत्र में प्राप्त होने वाली कारकों में इतिहास और कल्पना का मिश्रण भी मिलता है। बावा जित्तो, बाबा भैड़ आदि कारकें केवल डुग्गर क्षेत्र में प्राप्त होती हैं, जबकि सिद्ध गौरिया, बिरपानाथ आदि कारकें भारत के अन्य क्षेत्रों में भी प्राप्त होती है।

4.11 बार

'बार' वीर पुरुषों संबंधी पद्यबद्ध आख्यान हैं। यह डोगरी लोकगाथा का एक प्रकार है। बारों में राजपूत और अन्य जातियों के पुरुषों की वीरता का वर्णन होता है। वीरता के साथ धर्म और लौकिक प्रेम का मिश्रण इनमें रहता है। कुछ बारों का विषय देश-प्रेम भी है। डुग्गर प्रदेश के लोकगायक योगी, गारड़ी और दरेस घर-घर जाकर 'चकारे' नामक वाद्ययंत्र पर बारें गाते हैं। ये विशेष उत्सवों और विशेष स्थानों पर भी गाई जाती हैं। घटना के अनुसार गाने वाले के स्वर और शैली में परिवर्तन होता रहता है।

बारों में चित्रित पुरुष अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने सुख-दुख, यहां तक कि अपने जीवन को भी दांव पर लगा देते हैं। बारों में वीर पुरुषों के जन्म, बचपन, शिक्षा और विवाह का उल्लेख भी रहता है। लोकगायक अपनी कल्पना से वीर-पुरुषों के असाधारण कार्य-व्यापार का वर्णन भी कर देते हैं, जिससे साधारण जन को वीरों के असाधारण होने का विश्वास हो जाता है, वे समझते हैं कि वीरों को देवी-देवताओं की सहायता प्राप्त हो रही है। बारों में वर्णित वीर पुरुषों के प्रति जनसामान्य में श्रद्धा और सम्मान का भाव प्राप्त होता है।

मियां डीडो, बजीर जोरावर सिंह आदि बारें, डुग्गर प्रदेश से संबंधित हैं। पृथ्वीराज चौहान, अमरसिंह राठौर आदि बारें अन्य प्रदेशों में भी प्राप्त होती हैं।

4.12 भाख

गीत गाने की विशेष विधि को 'भाख' कहते हैं। कुछ लोग इकट्ठे होकर एक हाथ को कान पर रखकर और दूसरे हाथ को भावानुसार लहरा कर लंबी तान छेड़ते हैं। 'भाख' एक स्वर से आरंभ होती है, बीच में गाने वालों के स्वर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। 'भाख' का संगीत की दृष्टि से विशेष महत्व है।

तान के आधार पर 'भाख' के तीन भेद मिलते हैं - लम्बी भाख, माध्यम भाख और छोटी भाख। 'भाख' प्रेम, भक्ति सामाजिक परिस्थिति -किसी भी विषय से संबंधित हो सकती है। शृंगार से संबंधित एक लम्बी भाख की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं -

खोल्ह बल्लें दरवाजा।
जागन अजैं दरानियां
हौला देआं खंगूरा
बोलियां लान जठानियां॥

4.13 झंझोटी

डुग्गर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में गाए जाने वाले छोटे-छोटे गीतों को 'झंझोटी' कहते हैं। ये गीत प्रेम, भक्ति, सामाजिक परिस्थिति किसी भी विषय से संबंधित हो सकते हैं। एक 'झंझोटी' में बहिन अपने भाई से अपनी मां के पास ले चलने के लिए कहती है :

भाइया घरैं-घरैं दरैंकां फुल्लियां।
भाइया लेइ चल अम्मां जी दे पास॥
भैने रोह् घर अपनै सस्सू जी दै पास।

4.14 तरोड़क

भाख के ही एक रूप को तोड़-तोड़ कर गाए जाने के कारण 'तरोड़क' कहा जाता है।

4.15 बिसनपत्ते

डॉ० ओमप्रकाश गुप्त के अनुसार – 'भक्ति, त्याग सारांशतः अध्यात्म संबंधी छोटे-छोटे भजनों को 'बिसनपत्ते' कहा जाता है।

4.16 डोगरी मंत्र

डोगरी लोकसाहित्य में व्यक्ति की दिनचर्या, विभिन्न बीमारियों, जैसे दांत का दर्द, बिच्छु द्वारा काटना आदि से संबंधित मंत्र मिलते हैं। सुबह उठने की क्रिया से लेकर रात्रि में सोने की क्रिया तक के कुछ मंत्रों का उल्लेख डॉ० चम्पा शर्मा ने डोगरी शीराज़ा में प्रकाशित अपने एक लेख में किया है। सुबह जागकर धरती पर पैर रखने से पूर्व बोले जाने वाले मंत्र प्रायः स्तुतिपरक हैं। दातुन करते समय संशय मिटाने का एक मंत्राश इस प्रकार है :

कीती दातन, चुक्की सैंशा
जा बीड़ी रावण दी लैंका।

इसी तरह पूजा-पाठ, स्नान, सायं दीप जलाने और रात्रि में सोने संबंधी मंत्र भी मिलते हैं। दाल-सब्जी बनाते हुए नमक डालते समय उच्चरित किए जाने वाले मंत्र का उल्लेख इस प्रकार है :-

श्री राम दी रसोई
जा लून पूरा होई॥

4.17 डोगरी लोकनाटक

डोगरी के कुछ विद्वान 'पड़ओ', 'भंड दा तमाशा', 'खुसरे' (खुसरों का तमाशा), 'काह्न-सखियां', 'छज्जा', किसी की मृत्यु पर किया जाने वाला 'स्यापा' आदि को लोकनाटक मानते हैं। नाट्य संबंधी इन रूपों में लोकनाटक के एक दो तत्व पाए जाते हैं। एक-दो तत्वों के आधार पर कोई भी रूप लोकनाटक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। प्रो० रामनाथ शास्त्री भंडों के तमाशे को नाट्य परम्परा में स्थान नहीं देते।

डुग्गर क्षेत्र में लोकनाटक की जो परम्परा प्रचलित रही है उसमें निम्न नाम डोगरी के अधिकारी विद्वान गिनाते हैं :

1. स्वांग
2. भगतां
3. रास-लीला
4. राम-लीला
5. हरण

रासलीला के संबंध में कहा जाता है कि हीरानगर के पं० जगतराम इस कला को मथुरा-वृन्दावन से सीख कर आए थे। प्रो० रामनाथ शास्त्री इसे भी डोगरी की लोक नाट्य परम्परा में स्थान नहीं देते। इसका कारण वे यह मानते हैं कि रासलीला को डुग्गर प्रदेश की मिट्टी के रंग और गंध में ढालने वाला कोई दूसरा कलाकार उत्पन्न नहीं हुआ। पहला कलाकार जगतराम ही था।

राम की कथा से संबंधित रामलीला भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित है। इसकी कथा और प्रस्तुति प्रायः सभी स्थानों पर एक जैसी है। धार्मिक कथा होने के कारण इसमें क्षेत्रीय तत्वों के जुड़ने की संभावना कम है। किसी रचना का क्षेत्रीय भाषा में अनुवाद या पुनर्रचना किसी क्षेत्रीय परम्परा के निर्माण में अधिक सहायक नहीं हो सकती। उत्तर भारत में प्रस्तुत की जाने वाली रामलीला की परम्परा की एक कड़ी के रूप में ही डुग्गर प्रदेश में प्रचलित रामलीला की चर्चा की जा सकती है। असूज महीने के नवरात्रों में राम कथा का मंचन किया जाता है। ईंट-सीमेंट

से बने या लकड़ी के तख्ते डालकर बनाएं गए ऊँचे मंच के तीन ओर चादरें लगाई जाती हैं, जिस पर पर्दा बदलने की भी व्यवस्था होती है। पुरुष पात्र ही स्त्री पात्रों की भूमिका निभाते हैं। डुग्गर क्षेत्र में प्रसिद्ध बसोहली की रामलीला में अनेक मंच बनाए जाते हैं, ताकि एक दृश्य की समाप्ति पर दूसरे दृश्य को प्रारंभ करने में समय नष्ट न हो। रामलीला के मंच की सज्जा भी की जाती है। हारमोनियम, ढोलक, तबला, कैंसियां, चिमटा, घुंगरू, कैह्‌ल, कैन, शंख आदि वाद्‌ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

स्वांग को प्राचीन लोकनाटक माना जाता है। 'स्वांग' घराना परंपरा से संबद्ध था। किसी खुली जगह या काम चलाऊ मंच पर स्वांग प्रस्तुत किया जाता था। मंच चादरें बांधकर बनाया जाता था और दृश्य परिवर्तन की व्यवस्था भी थी। स्वांग के पेशेवर कलाकारों में किसी नकल को प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता थी।

'लोह्‌ड़ी' नामक त्यौहार पर किसी लड़के को हिरण का वेश धारण कराकर घर-घर जाकर लोह्‌ड़ी मांगने को 'हरण' नामक लोकनाटक माना जाता है, वस्तुतः यह नृत्य है जिसमें हिरण संबंधी बातचीत भी सम्मिलित रहती है। यह परम्परा मैदानी और कंडी क्षेत्र में मिलती है। पहाड़ी क्षेत्र में 'हरण' के साथ स्वांग जुड़ा हुआ है। जाति या पेशे सम्बन्धी स्वांगों में हास्य-रस मिलता है। पहाड़ी क्षेत्र में 'लोह्‌ड़ी' के अतिरिक्त वैयक्तिक या सामूहिक उत्सव पर निमन्त्रण देकर 'हरण' का प्रदर्शन करवाया जाता है। पहाड़ी 'हरण' डोगरी लोकनाटक की परंपरा का अंग है।

विवाह के अवसर पर जिस दिन बारात लड़की के घर की ओर चली जाती है, उस रात्रि को मुहल्ले की सभी औरतें इकट्‌ठी होकर रात भर विभिन्न स्वांग और नृत्य प्रस्तुत करती हैं जिसे 'जागरना' या 'धमच्चड़ा' कहा जाता है। किसी पुरुष का 'जागरना' में उपस्थित होना वर्जित है। 'जागरना' में प्रस्तुत किए जाने वाले स्वांग हास्य रस प्रधान होते हैं और उनमें अश्लीलता भी होती है। इसे प्रायः बंद कमरे में प्रस्तुत किया जाता है। 'जागरना' को हिन्दी क्षेत्र में 'खोड़िया' कहा जाता है। इसमें स्त्री पात्र ही पुरुष पात्रों का अभिनय करते हैं।

'भगतां' डोगरी लोकनाटक स्वांग का ही परिष्कृत रूप माना जाता है। 'भगतां' या 'भगत' का संबंध भक्तिप्रधान कथानकों से है जिन्हें प्रायः भक्त लोग ही प्रस्तुत करते थे। इन्हें भक्ति आंदोलन की देन माना जाता है।

विशेष रूप से बैसाखी या होली के त्योहार पर किसानों द्वारा फसल संभाल लेने के पश्चात्‌ 'भगतां' की प्रस्तुति होती है। 'भगतां' के कलाकारों को 'भगतिये' कहा जाता है। 'भगतां'

का संबंध अखाड़े से है, जिसके मुखिया को 'डेरेदार' या 'उस्ताद' कहा जाता है। 'भगतां' में अधिकतर कृष्णलीला का ही प्रदर्शन किया जाता था। भगतां का एक अन्य रूप प्रचलित रहा है उसमें भक्तिपरक कथानकों का अभाव है। भक्ति के नाम पर 'भगतां' के प्रारम्भ में वंदना ही मिलती है। लोगों को इकट्ठा करने के लिए सबसे पहले 'लैहरा' बजाया जाता है। गणेश-पूजा के बाद सरस्वती और अन्य देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। 'भगतां' का कथानक हास्य-प्रधान होता है। अन्ध-विश्वास, आर्थिक समस्या, ज़मीन जायदाद संबंधी झगड़े, पारिवारिक झगड़े, अतिथियों का सत्कार, बेमेल विवाह, विधवाओं की दीन-हीन दशा 'भगतां' के मुख्य विषय हैं। इसके संवाद द्विअर्थी होते हैं - एक साधारण, दूसरा अश्लील। स्त्रियों और बच्चों के लिए यह वर्जित है। इसका प्रदर्शन खुले मैदान में होता है सर्दियों में लोग अलाव के चारों ओर बैठते हैं।

4.18 सारांश

अतः 'भगतां' को ही डुग्गर लोकनाट्य परम्परा का नाटक माना जा सकता है। वर्तमान में इसका स्वरूप स्वांग के निकट है। कथानक और दर्शक विहीन किसी भी नाटक को लोकनाटक नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से 'जागरण', 'हरण' और 'स्वांग' लोकनाटक की परिधि में नहीं आते। विद्वानों का मानना है कि बसोहली क्षेत्र में इसका प्रदर्शन होता था। रामनाथ शास्त्री के अनुसार 'डोगरा प्रदेश के किसी भी क्षेत्र में आज यह लोकनाट्य परम्परा जीवित नहीं है।'

4.19 कठिन शब्द

1. आख्यक
2. विशिष्ट
3. निर्वैयक्तिक
4. संचालित
5. परम्परागत
6. आकर्षित
7. साधना
8. प्राकल्पना
9. अदृश्य
10. सार्वकालिक
11. संप्रेषित
12. शिथिल
13. मुखौटा
14. लोकधर्मी
15. सिद्धान्त

4.20 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मंत्र किसे कहते हैं ? स्पष्ट करते हुए मंत्र के रूपों पर प्रकाश डालें।

   ----

2. लोकमानस किसे कहते हैं ? इसके स्वरूप पर प्रकाश डालें।

   ----

3. लोकमानस को स्पष्ट करते हुए इसके तत्वों पर चर्चा कीजिए।

   ----

4. लोकोक्ति लोक की उक्ति है, स्पष्ट करते हुए इसके प्रमुख आधारों पर प्रकाश डालें।

----

5. लोकोक्ति की परिभाषा देते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

----

6. लोकनाटक से क्या अभिप्राय है? इसको स्पष्ट करते हुए लोक नाटक की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ

1. मंत्र का शाब्दिक अर्थ क्या है?

----

2. मंत्रों के कितने रूप हैं?

----

3. लोक मानस के दो तत्व कौन-से हैं?

----

4. डुग्गर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में गाए जाने वाले छोटे-छोटे गीतों को क्या कहते हैं ?

4.21 सन्दर्भ ग्रन्थ / पुस्तकें

1. डुग्गर लोक साहित्य – डॉ० शिव निर्मोही
2. लोकगीतों की सामाजिक व्याख्याएं – श्री कृष्ण दास
3. लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्ति – डॉ० महेन्द्र भानावल

लोकगाथा : परिभाषा, स्वरूप, विशेषताएं

रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 गाथा का विकास : भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में

5.4 प्राचीन संस्कृत साहित्य में गाथा

5.5 लौकिक साहित्य में गाथा

5.6 कथात्मक गीतों के विभिन्न नाम और लोकगाथा का स्वरूप

5.7 लोक का स्वरूप

5.8 लोक गाथा-पाश्चात्य सन्दर्भ

5.9 लोक गाथाओं की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत

5.10 लोकगाथाओं के विकास की अवधारणा

5.11 लोक गीत और लोकगाथा में साम्य-वैषम्य

5.12 लोकगाथाओं का वर्गीकरण

5.13 लोकगाथाओं की विशेषताएँ

5.14 सारांश

5.15 कठिन शब्द

5.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.17 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

5.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत पाठ में लोक गाथाओं के स्वरूप, परिभाषा एवं विशेषताओं पर विचार करेंगे।
- लोक गाथाओं के विकास के सन्दर्भ में वैदिक साहित्य में, प्राचीन संस्कृत साहित्य में, लौकिक साहित्य में गाथाओं की विकास धारा को जान सकेंगे।
- कथात्मक गीतों के विभिन्न नामों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- पाश्चात्य सन्दर्भ में लोक गाथा के स्वरूप को जान सकेंगे।
- लोक गाथाओं की उत्पत्ति विषयक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

'लोकवार्ता' में लोकगाथा महत्त्वपूर्ण घटक है। लोक साहित्य में कथात्मक या प्रबन्धात्मक काव्यात्मक अभिव्यक्ति होती है। लोकवार्ता क्षेत्र में लोकगाथा शब्द भी लोक साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ग्रहण किया गया अपेक्षाकृत नया शब्द है। भारतीय प्राचीन साहित्य में 'गाथा' शब्द अनेक रूपों में प्रयुक्त हुआ है। लोक गाथा किसी अज्ञात रचयिता द्वारा रचित सम्पूर्ण समाज की ऐसी धरोहर है जिसमें योग्यता के साथ-साथ कथात्मकता का भी निर्वाह होता है। इसका प्रसार या प्रचार मौखिक रूप में जनसाधारण से होता है।

5.3 'गाथा' का विकास : भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में

(क) वैदिक साहित्य में गाथा :

वैदिक युग में शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले गीतों को गाथा कहा गया है :-

'प्रकृतन्या जीविण: कणवा इन्द्रस्यगाथया।[1]

मदे सोमस्य बोचत।

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने ऋग्वेद के साक्ष्य पर 'गाथा' शब्द को पद्य या गीत से उत्पन्न माना है :-

'अग्नि मीडिरावाक्से गाथाभि: शीर शोचिषम्।[2] (ऋ० वे० 9/99/4) वैदिक युग में गाथाओं का अत्यधिक महत्त्व था इसलिए ''रैमी'' और ''नाराशंसी'' गाथाओं की रचना अलग से हुई। सायण भाष्य के अनुसार विवाह के अवसर पर विभिन्न वैवाहिक विधियों के समय जो गीत गाये जाते थे वे रैमी, नाराशंसी गाथा के नाम से प्रसिद्ध थे। ऋग्वेद में गाने वाले के अर्थ में 'गाथिन' शब्द

का प्रयोग किया गया मिलता है। गाथा शब्द का विशिष्ट मन्त्र के अर्थ में भी प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है। उपरोक्त विद्वानों के मतों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन साहित्य में 'गाथा' शब्द को निम्न अर्थों में लिया गया है –

(1) शुभावसरों पर गाये जाने वाले गीत (2) पद्य अथवा गीत (3) वैवाहिक विधियों के गीत (4) गाथिन (5) विशेष मन्त्र तथा गाथा–छन्द।

5.4 प्राचीन संस्कृत साहित्य में गाथा :

आधुनिक समय में लोक साहित्य के अन्तर्गत 'लोक गाथा' को जिन अर्थों में लिया जाता है वह प्राचीन अर्थ से भिन्न है। प्राचीन साहित्य में 'गाथा' शब्द गीत के अर्थ में ही अधिकतर हुआ है। गाथा से सम्पृक्त 'गाथिन' का गायक के रूप में प्रयोग भी गाथा के गेय तत्त्व को प्रमाणित करता है। गाथा के 'छन्द' अर्थ से भी गाथा की गेय अर्थ की ही पुष्टि होती है। 'मन्त्र' विशिष्ट अर्थ के रूप में भी लोक–गाथा लोकगीतों से भिन्न सिद्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार भी गाथाएँ ऋक्, यजु और साम से पृथक होती थीं। इसका आशय इनके अर्थ की मन्त्र से पृथकता का है। ऋक् दैवी होती थी और गाथा मानुषी। इस प्रकार प्राचीन काल में किसी विशिष्ट राजा के किसी सुकृत्य को लक्षित करके जो गीत गाये जाते थे उन्हें 'गाथा' नाम से साहित्य का एक पृथक अंग माना जाता था। वैदिक गाथाओं के उदाहरण शतपथ ब्राह्मण तथा एतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं जिनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के उदात्त चरित्र का वर्णन किया गया है। प्राचीन साहित्य में गाथा के विभिन्न रूपों पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ये मानुषी होती थी, ऋक, यजु और साम मन्त्रों से भिन्न थी, विवाह तथा संस्कारों, यज्ञों के समय इन यज्ञ गाथाओं का गान तथा प्रचलन इनकी प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रख रहा है।

5.5 लौकिक साहित्य में गाथा :

सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान विन्टरनीत्स के अनुसार भारतीय लोक गाथाओं की परम्परा का इतिहास वेद, पुराण, इतिहास, आख्यान तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र–तत्र प्राप्त होता है। प्रत्येक उत्सव एवं यज्ञ के प्रारम्भ में प्रत्येक गृह में देव गाथा, वीर गाथा तथा अन्य कथाओं का गायन एवं श्रवण होता था। शुभ कार्यों, यज्ञों तथा विवाहों, प्रसवकाल और अन्य संस्कारों के अवसर पर कथा–गीत गाने की परिपाटी थी। विद्वानों का यह भी मत है कि महर्षि वाल्मीकि ने लोक में प्रचलित राम की गाथा के आधार पर रामायण की रचना की थी। महर्षि व्यास ने भी लोक में प्रचलित अनेक गाथाओं के आधार पर महाभारत का प्रणयन किया था। 'अमर कोष' में गाथा शब्द का अर्थ –

पितरगण, परलोक या ऐसे ही अन्यत्र विषयों से संबद्ध अनुश्रुतियों पर आधारित पद्य या गीत बतलाया गया है।'' इस अर्थ में गाथा मृतक पूजा या वीर पूजा तथा अमानव पूजा से जुड़ती प्रतीत होती है। इस प्रकार गाथाओं में इतिहास तथा जनश्रुतियों का होना आवश्यक हो गया।

पारसियों की धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता' में उसमें दी गई गाथाएं अन्य उपदेशों से अधिक प्राचीन मानी गईं हैं और उनमें पारसी धर्म के सिद्धान्त ज्यादा रोचक ढंग से दिए गए हैं। गाथाएं इस प्रकार प्राचीन, मौखिक रूप से प्रचलित और परम्परावादी सिद्ध होती हैं।

बौद्ध धर्म में 'पालि जातक' में भी लोकगाथाओं के प्रमाण मिलते हैं। प्राकृत काल में 'गाथा सप्तशती' जैसे सात सौ गाथाओं के विशाल संग्रह का संपादन राजा हाल अथवा शालिवाहन ने किया था। प्राकृत में 'गाथा' या 'गाहा' शब्द का प्रयोग नए अर्थ धारण करता है तथा विस्तृत ज्ञान का सूचक बनता है।

अपभ्रंश में 'रासक' भी गेय रूपक है इसी से हिन्दी में रासो साहित्य का सृजन हुआ। अपभ्रंश काल में लोकगाथाओं का नृत्य आदि के सहयोग से प्रचलन था। गुप्तकाल में भारत आए चीनी यात्री फाहयान ने लिखा है कि उस समय के साहित्य में लोकगीत, गीत और संगीत के साथ लोक गाथाओं का भी प्रचलन था।

उपर्युक्त विवेचन से प्राचीन भारतीय साहित्य में प्रयुक्त गाथा साहित्य की निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती हैं -

(1) 'गाथा' परम्परागत एवं प्राचीन लोकवार्ता रूप है। लोकवार्ता अधिक होने से इसे 'लोकगाथा' कहा गया है।

(2) 'लोकगाथा' शब्द से ही इसके 'मानुषी' रूप पर प्रकाश पड़ता है।

(3) यह गेय तत्व युक्त जनश्रुति और पूर्वकालीन मौखिक इतिहास था।

(4) डॉ० कृष्ण देव के अनुसार आकार में छोटे 'गेय' गीत जिनमें गाथा या आख्यान का अभाव हो उन्हें अंग्रेजी में 'लिरिक' और जिनमें लम्बा कथानक हो तथा गेयता भी अवश्य हो 'बैलेड़' कहते हैं। हिन्दी में इन्हें लोकगीत और लोकगाथा का रूप दिया जा सकता है। गाथाओं में कथानक होना आवश्यक है।

लोक साहित्य में 'लोक' शब्द का प्रयोग सभी विधाओं के साथ लगाया जाता है जैसे लोककथा, लोकगीत, तथा लोक नाट्य आदि इसी प्रकार प्राचीन 'गाथा' के साथ 'लोक' शब्द लगाया

जाने लगा क्योंकि इसमें लोक की ही अभिव्यक्ति थी।

डॉ० सत्येन्द्र ने कहानियों के वर्गीकरण में आठ तरह की कहानियां गिनाई हैं और उनमें भी 'लोकगाथा' को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। धर्मगाथाओं के अन्तर्गत वे सभी कहानियां आ जाती हैं जो धर्म गाथा (मिथ), लोक गाथा (बैलेड), पंवाडा या वीर गाथा (हिरोइक टेल्ज) कही जाती हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने वस्तु की दृष्टि से इन्हें तीन भागों में बाँटा है – गाथाएं (माइथ), वीर गाथाएं (लीजेण्ड), और कहानियां। धर्म गाथाओं में विश्व के निर्माण की व्याख्या करने वाली कथाएं, प्रकृति के इतिहास की व्याख्या करने वाली, मानवी मूल की व्याख्या करने वाली, तथा समाज तथा धर्म-प्रथाओं के मूल अथवा पूजा के स्वभाव तथा इतिहास की व्याख्या करने वाली गाथाएं आती हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कथात्मक लोकगीतों को जो आकार में लम्बे तथा गेय थे, गाथा कहने का प्रचलन रहा।

5.6 कथात्मक गीतों के विभिन्न नाम और लोकगाथा का स्वरूप :

कथात्मक गीत पूरे भारत में विभिन्न नामों से प्रचलित हैं। महाराष्ट्र में शिवाजी और नानाजी के कथात्मक गीत 'पवाड़े' कहलाते हैं। गुजरात में इन्हें कथागीत, राजस्थानी में गीतकथा कहा जाता है। कथा के प्रमुख चरित्रों के नाम पर भी लोकगाथाओं के नाम चलते हैं यथा बंगाल में गोपीचन्द के गीत 'गोपी चन्देर गान' पंजाबी में 'हीर रांझा', 'सोनी महिवाल' तथा 'मिर्जा-साहिबां।' तथा भोजपुरी में 'आल्हा' नाम प्रचलित हैं। ब्रज में प्रबन्धगीत 'पमारा' कहलाते हैं। विविध क्षेत्रों में प्रचलित लोक गाथाओं को गुजराती में 'कथा गीत-पवाड़', राजस्थानी में 'गीत कथा पवाड़ा', ब्रज में 'प्रबंधगीत पमारा', महाराष्ट्री छत्तीसगढ़ी में पंवाडा, मालवा में पंवाडो, भोजपुरी मागधी में लोकगाथा पंवारा कहा जाता है। हिमाचल के विभिन्न क्षेत्रों में इन्हें विभिन्न नामों से जाना जाता है यथा – मण्डी में, 'भारथां (वार्ता) झेड़े', कांगड़ी में 'वारें-कारके', किन्नर में 'गीथङ्' और लाहौल स्पीती में 'गुरे' कहा जाता है। 'गुग्गा गाथा' के रूप में भी लोकगाथाएं प्रचलित हैं। कुछ ऐतिहासिक प्रबन्धात्मक कथाओं को हिमाचल में केवल 'कथा' कहा जाता है।

लोकगाथाओं के विभिन्न नामों के आधार पर उनकी विषय वस्तु या संकेत तो मिलता है परन्तु उन्हें लोक-साहित्य की अन्य विधाओं से अलगाने में विशेष सहायता नहीं मिलती। 'गीति' तत्व के अभाव में या गेय न होने पर ये कथाएं ही कहलाएंगे लोकगाथाएं नहीं। कथा, गीत और गीतकथा, ये लोकगाथा की विशेषताएं हैं। 'लोकगाथा' अपनी गेयता के कारण गेय विधा में आती है। लोकगाथा धर्म, इतिहास अथवा वीर चरित में से किसी को भी लेकर चले, रहेगी लोकगाथा ही।

डॉ० सत्येन्द्र ने वीरों के विक्रम के लोकगीतों का 'साके' और 'पवाड़े' तथा अंग्रेजी शब्द

'बैलांड' को प्रेमगीत कहा है क्योंकि इसमें प्रेमभाव का चित्रण रहता है। उनके अनुसार कुछ अन्य लोग इन्हें 'गाथा गीत' तथा 'लोक गाथा गीत' नाम से भी पुकारते हैं।

5.7 'लोक' का स्वरूप

'लोकगाथा' में गाथा शब्द पर विचार करते समय यह स्पष्ट हुआ कि प्राचीनतम काल से ही स्तुतिपरक या प्रशंसापरक गेय कथाओं को लोकगाथा का नाम दिया गया। 'लोक' शब्द लोक साहित्य में बार-बार आता है इसलिए इस पर विचार करना आवश्यक है।

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने 'लोक' शब्द पर विचार करते हुये इसे दो अर्थों में प्रयुक्त किया है - एक, विश्व तथा समाज, दूसरे जन सामान्य तथा जन साधारण। 'लोकवेदच' उक्ति में 'लोक' वह है जो अशिक्षित है और वेद की सीमा में शिक्षित वर्ग आता है। आज का शिष्ट साहित्य ऐसे ही लोगों का विशेष क्षेत्र माना जाता है। 'लोक' शब्द अशिक्षित, अर्द्ध शिक्षित, अर्द्ध सभ्य, असभ्य वर्ग के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए चाहे वे ग्रामीण क्षेत्र में निवास करते हों या नगरीय क्षेत्र में। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' और 'ग्राम' को पर्याय रूप में मानने पर आपत्ति की है क्योंकि उनके अनुसार, " 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं।" डॉ० श्याम परमार ने इस शब्द की परिसीमा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका विचार है -

"आधुनिक साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर, साधारण जन-समाज जिसमें पूर्वसंचित परम्पराएं, भावनाएं, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़, किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।"

लोक और ग्राम को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। ग्राम शब्द अपने अर्थों में सीमित है। 'लोक' का विस्तार ग्राम और शहर में समान रूप से है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'लोक' के पर्याय के रूप में 'जन' शब्द को स्वीकार किया है। संभवत: 'जन' शब्द का प्रयोग उन्होंने गांव के रूप में किया है। 'जन' और 'लोक' शब्द हमारे प्राचीन साहित्य में बार-बार प्रयोग हुए हैं। प्रयोग और परम्परा में अंग्रेजी के 'फोक' शब्द का पर्याय 'लोक' को ही माना गया है।

5.8 लोकगाथा : बैलांड और इपिकले, पाश्चात्य सन्दर्भ

(क) बैलांड और लोकगाथा : अंग्रेजी में लोकगाथाओं के लिए बहुधा 'बैलेड़' शब्द

रुढ हो गया है। 'बैलाड' शब्द लैटिन भाषा के 'बैलोर' शब्द से निकला है। 'बैलोर' का अर्थ है नृत्य करना। इस आशय से नृत्यगीत सम्पन्न कथागीत लोकगाथाएँ या बैलेड़ हैं। धीरे-धीरे बैलेड़स में नृत्य का अंश समान होता गया तथा केवल कथात्मक गीतों को ही 'बैलाड' कहा जाने लगा। फ्रांस में 'बैलाड' और लोकप्रिय गीतों को 'चासांस पायुलेरी' के नाम से पुकारा जाता है। जर्मन में इन्हें व्होक स्लाइडर' कहा जाता है किन्तु 'बैलाड' शब्द भी यहां प्रचलित है। डैनमार्क में 'बैलाड' को 'फोके वाइज़र' तथा स्पेन में 'रोमनकैरो' कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने 'बैलाड' की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं -

1. **जी० एल किटरेज :** जी० एल० किटरेज के अनुसार ''लोकगाथा कथात्मक गीत अथवा गीतकथा है।'' इस परिभाषा में 'गीत' और 'कथा' तत्व को बैलाड की विशेषता बतलाया गया है।

2. **फ्रैंक सिजविक :** 'बैलाड' को ''सरल, वर्णनात्मक' गीत मानते हैं जो लोक मात्र की सम्पत्ति होता है और जो मौखिक रूप में ही विकसित होता है।'' इस परिभाषा में वर्णनात्मक, सरल, मौखिक तथा गेय तत्वों पर बल है।

3. **प्रो० ऐफ. बी. गूमेर :** 'बैलाड' गाने के लिए रची गई एक ऐसी कविता है, जो सामग्री की दृष्टि से सर्वथा व्यक्ति शून्य और संभवतः उद्‌भव की दृष्टि से सामुदायिक नृत्यों से सम्बद्ध हो किन्तु बीच में मौखिक परम्परा प्रधान हो गई हो। इसके गाने वाले साहित्यिक प्रभावों से मुक्त होते हैं।'' यह परिभाषा 'बैलाड' की उत्पत्ति के इतिहास और परम्परा पर प्रकाश डालती है।

4. **डॉ० मरे :** 'बैलाड', छोटे पदों में रचित एक ऐसी प्राणमयी सरल कविता है जिसमें कि कोई लोकप्रिय कथा बहुत ही जीवंत ढंग से कही गई हो।'' इस परिभाषा में 'लोकगाथा' या 'बैलाड' में पद्यात्मकता एवं कथात्मकता पर बल दिया गया है।

5. **ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका** में 'लोकगाथा' को ऐसी पद्य शैली बताया गया है कि जिसका रचियता अज्ञात हो, जिसमें साधारण उपाख्यान का वर्णन हो और जो सरल, मौखिक परम्परा के लिए उपयुक्त तथा ललित कला की सूक्ष्मताओं से रहित हो।''

6. **ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना** में लूसी पौण्ड 'बैलाड' को परिभाषित करती हुई लिखती हैं- ''ए बैलाड इज़ ए सिम्पुल नैरेटिव लिरिक ए सांग ऑफ नोन एण्ड अननोन

ओरिजन दैट टैल्ज ए स्टोरी'' अर्थात गेयता और कथानक इसके अनिवार्य तत्त्व हैं।

7. **हैजलिट** ने भी लोकगाथा को गीतकथा ही बतलाया है।

अंग्रेजी बैलाड और हिन्दी लोकगाथाओं में अनेक तत्त्व **समान** दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेजी बैलेड़ का जन्म मनोरंजन के लिए गाए जाने वाले नृत्य गीतों से हुआ तो भारत में भी मनोरंजनार्थ विवाह, यज्ञ आदि के अवसर पर गाए जाने वाले गीत, गाथा कहलाए। वास्तव में नृत्य के समय गाये जाने वाले सारे गीतों को 'लोक गाथा' कहना उचित नहीं क्योंकि ऐसा करने से सारे लोक गीत भी लोक गाथा कहलाएंगे। भले ही सुदूर अतीत में नृत्य से लोक गाथाओं का अटूट सम्बन्ध रहा हो परन्तु मध्य काल और वर्तमान में यह सम्बन्ध दिखाई नही पड़ता।

अंग्रेज़ी का 'बैलाड' शब्द हिन्दी में 'लोकगाथा' शब्द के पर्याय के रूप में ही प्रचलित है। हिन्दी में 'बैलाड़' का बोध करवाने के लिए ग्राम्य गीत, नृत्य गीत, आख्यान गीत, वीर गीत, वीर–काव्य जैसे शब्द भी प्रचलित हैं परन्तु 'लोकगाथा' के यह निकटतम पहुँचता है।

'बैलाड' या 'लोकगाथा' शब्द को स्पष्ट करते हुए डब्लयू पी० कार ने निम्न परिभाषा दी है–

'' 'बैलाड' वह कथात्मक गेय काव्य है जो या तो लोककंठ में विकसित होता है या लोकगाथा के सामान्य रूप विधान को लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमें गीतात्मकता और कथात्मकता दोनों होती हैं, जिनका प्रचार जन साधारण में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मौखिक रूप से होता रहता है।''

एक अन्य विद्वान जोसेफ स्टिफले ने 'बैलाड' शब्द के विभिन्न तीन रूपों में प्रयोग होने की बात कही है। उसका मानना है कि 'बैलाड' शब्द निम्न तीनों रूपों में व्यवहार में आता है –

1. साहित्य के क्षेत्र में सीमित और विशिष्ट अर्थ में।
2. सामान्य अर्थ में।
3. संगीत के क्षेत्र में।

साहित्य के क्षेत्र में इसका अर्थ होता है – कथात्मक तथा गीतात्मक काव्य, दूसरे अर्थ में सामान्य रूप से इसे ऐसे गीत के रूप में लिया जाता है जो भावात्मकता उभारता हो, तीसरे अर्थ में यह एक ऐसा गीत माना जा सकता है जो वाद्य रहित और समवेत स्वर में गाया जाता हो।

समस्त परिभाषाओं को दृष्टिगत रखते हुए 'लोकगाथा' में गेय तत्व, कथानक, रचियता का अज्ञात व्यक्तित्व तथा लोकप्रियता एवं मौलिक आधार होना आवश्यक माना जा सकता है।

यूरोप में कथा गीतों (बैलेड़) का विकास मध्ययुग में हुआ था, सोलहंवी, सत्तारहंवी शताब्दी में इनकी गणना साहित्यिक रचनाओं में की जाने लगी थी। इंग्लैंड में 'रौबिन हुड़' सम्बन्धित 'बैलेड़' अत्यन्त लोक प्रिय हुए। लूसी पाउंड़ ने अपनी 'पोइटिक ओरिजन्स एण्ड दी बैलेड़' पुस्तक में 'बैलेड़' की उत्पत्ति पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है।

5.9 लोकगाथाओं की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत :

संसार में प्राप्त लोकगाथाओं की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई यह अभी भी अनुमान और तर्क-वितर्क का विषय है क्योंकि इस विषय में कोई सुनिश्चित प्रमाण मिल सकना सम्भव नहीं है। 'लोकगाथा' मानव समाज का आदिम साहित्य-रूप है। सामूहिक नृत्यगीतों के साथ आगे चलकर पौराणिक पात्रों या देवी-देवताओं से सम्बन्धित गाथाएं भी जुड़ गईं। इस प्रकार नृत्य-गीतों में समाविष्ट पौराणिक इतिवृत्त युक्त स्वरूप ही लोकगाथाओं के निर्माण का मूलरूप स्वीकार किया जा सकता है। आगे चलकर नृत्य, संगीत और गाथा, इन तीनों कलारूपों का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। यही कारण है कि ऋग्वेद में प्राप्त नाराशंसी गाथाओं, संवादों तथा सूक्तों को हम भारत की प्राचीनतम लोकगाथाओं के रूप में स्वीकार करते हैं।

मानवता के उषाकाल में आदिमानव समूह में ही अपनी पहचान पाता था इसलिए लोकगाथाओं की उत्पत्ति का स्वत्व भी लोक समूह को ही प्राप्त रहा होगा। समूह का प्रत्येक व्यक्ति इन्हें अपनी चीज मानकर आवश्यकता एवं रूचि के अनुसार इसमें परिवर्तन करके, पीढ़ी दर पीढ़ी, एक स्थान से दूसरे स्थान पर, मौखिक परम्परा से इसे हस्तान्तरित करता रहा होगा। इस क्रम में ये लोकगाथाएं अनवरत रूप से परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरी होंगी। गेय तत्व की प्रधानता के कारण इसमें लोक संगीत एवं नृत्य का समावेश रहा।

लोकगाथाओं के रचयिताओं के गुमनाम होने के दो कारण समझ में आते हैं। एक कारण तो यह रहा कि इसके रचयिता या रचयिताओं ने इसके साथ अपना नाम जोड़ना उचित नहीं समझा क्योंकि यह परम्परा से प्राप्त लोकमानस की पूंजी थे जिसे उन्होंने गाने योग्य बनाया था। मौखिक परम्परा से विकसित, लोक गायकों के कंठ पर सवार होकर यह आगे बढ़ी तो लेखक की अपेक्षा गायक अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। आज भी सैंकड़ों गीतों और गजलों के गायकों को हम जानते हैं परन्तु उनमें से अधिकांश के लेखकों का अता-पता हमें नहीं होता। दूसरा कारण शायद यह रहा

होगा कि इन लोकगाथाओं के रचयिता आम तौर पर साधु, नाथ, सिद्ध, महादेव अथवा गोरखनाथ जैसे रहे हैं। अपनी गाथाओं को अलौकिक शक्ति द्वारा रचे जाने का भ्रम फैलाने के लिए क्योंकि इससे गाथा का महत्त्व बढ़ जाता है, गाथाकार ने इनके साथ अपना नाम जोड़ने का लोभ संवरण किया होगा। सब कुछ प्रभु अर्पण करने वाले साधु-महात्मा यदि अपना नाम रचना के साथ न जोड़ना चाहें तो यह स्वाभाविक ही है। 'लोकगाथा' के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालना 'लोकगाथा' के स्वरूप को समझने में सहायक होगा। प्रमुख विचारकों के लोकगाथाओं की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त निम्न प्रकार से हैं –

(1) लोकनिर्मितिवाद या समुदायवाद

(2) व्यक्तिवाद

(3) जातिवाद

(4) चारणवाद

(5) व्यक्तित्वहीनवाद

1. लोकनिर्मितिवाद

इस सिद्धान्त को मानने वालों में 'जैकब ग्रिम' और 'विल्हेम ग्रिम' का नाम उल्लेख्य है। इसी सिद्धान्त को मानने वाले 'स्टीन पाल' आदि हैं। इस मत के अनुसार लोकगाथाओं की रचना समूहों द्वारा हुई है इसलिए इन्हें किसी व्यक्ति विशेष से न जोड़कर 'अपौरुषेय' कह दिया गया।

इस सिद्धान्त के विपक्ष में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली यह कि मूल रचयिता द्वारा रची जाने के पश्चात् इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन ही संभव रहा होगा। दूसरी बात यह है कि यह सार्वभौम सिद्धान्त नहीं है और अनेक लोकगाथाएं इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं आतीं।

2. व्यक्तिवाद

'ग्रिम महोदय' के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत 'श्लेगल' का मत है कि सारी लोकगाथाएं अथवा लोक साहित्य से जुड़ी रचनाएँ अपने प्रारम्भिक रूप में किसी न किसी रचनाकार की कृति रही होंगी। हर रचना में कृतिकार का व्यक्तित्व झलकता है।

इस सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य, लोकमानस का प्रतिरूप है और आदिम अवस्था में जब लोक साहित्य का जन्म हुआ उस समय सामूहिक जीवन ही सर्वोपरि

महत्त्व का था इसलिए लोक साहित्य व्यक्ति की नहीं, समूह की रचना रहा होगा। मौखिक परम्परा से विकसित होने वाले लोक साहित्य में कालान्तर में इतने परिवर्तन हो जाते हैं कि मूल रचयिता द्वारा दिया रूप खो जाता है। जो 'लोकगाथा', जिस रूप में आज हमें प्राप्त है उसका मूल रूप कैसा रहा होगा यह कह पाना अत्यन्त कठिन है इसलिए उसे समूह की रचना ही मानना पड़ेगा।

3. जातिवाद :

स्टेनथल नामक विद्वान ने यह स्थापना की कि लोकगाथाएं किसी जाति विशेष की रचनाएं हैं क्योंकि जाति-विशेष का चिंतन, उसकी रूढ़ियां, परम्पराएं और अनुभूति की दिशाएं समान होती हैं। इसलिए किसी जाति के प्राणियों में संस्कारगत साम्य की प्रवृति के कारण एक जाति ही 'लोकगाथा' की सृष्टि करती है। भारत में जाति विशेष के मेलों या पर्वों के अवसर पर अनेक लोकगाथाओं को गाया जाता है। कुछ लोकगाथाएं विभिन्न क्षेत्रों में जाति विशेष के लोग आज भी गाते हैं।

जातिवाद के सिद्धान्त से यदि लोकगाथा की उत्पत्ति मानी जाए तो सारी लोकगाथाओं को जाति विशेष की सम्पत्ति माना जाएगा। सारी लोकगाथाओं को जातियों की कृति मानना अनुचित होगा। इस प्रकार इसे सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

4. चारणवाद :

इस सिद्धान्त को 'विशप परसी' ने प्रवर्तित किया था। इसके समर्थकों में 'जौसिफरिटसन' और प्रसिद्ध उपन्यासकार 'सर वाल्टर स्कॉट' हैं। इनके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के पोषकों में प्रो० 'पाल' का नाम भी लिया जाता है। इन विद्वानों का मानना है कि लोकगाथाओं का सृजन चारणों ने किया जो कि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में गीत लिखते थे। 'विशप' का तो यह भी मानना है कि छोटे-छोटे वर्णनात्मक गीत भी चारणों द्वारा लिखे गए थे। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीर गाथात्मक रासो साहित्य चारणों द्वारा रचा गया। अनेक मिस्ट्रल अथवा चारण आज भी ऐतिहासिक महापुरुषों तथा अन्य साहसिक लोगों की गाथाएं लोकगायक के रुप में गाते हुए देखे जा सकते हैं। व्यवसाय के रूप में लोकगाथा गायन को अपनाने के कारण नई लोकगाथाओं का सृजन भी वे करते रहे हैं। यह सिद्धान्त भी अपनी व्याप्ति में पूर्ण नहीं क्योंकि अनेक लोकगाथाएं चारणों द्वारा नहीं रची गईं विशेषकर धार्मिक लोकगाथाएं।

5. व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद :

लोकगाथाओं के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त प्रो० 'चाइल्ड' ने प्रतिपादित किया था। प्रो० 'स्टीन

स्ट्रेप' ने इसका समर्थन किया था। इन विद्वानों ने लोकगाथाओं की उत्पत्ति में समूह तथा व्यक्ति के योगदान को सामूहिक रूप से स्वीकार किया है। ये विद्वान मानते हैं कि मूलरूप में रचना भले ही व्यक्ति विशेष ने की हो परन्तु कालान्तर में इनमें अनेक लोगों ने परिवर्तन और परिवर्द्धन किया तथा इनका मूलरूप क्या था इसका पता लगाना असंभव है। लोकमन या लोकमानस की अभिव्यक्ति होने के कारण भी व्यक्ति विशेष ने रचयिता होते हुए भी इस पर अपने नाम की छाप लगाना उचित नहीं माना। अपनी रचना को 'अपौरुषेय' सिद्ध करने के लिए ही शायद उसने अपना नाम छुपाया होगा। 'लोकगाथा' व्यक्ति और समूह के सतत् सहयोग से विकसित होती आयी है।

उपरोक्त सिद्धान्तों में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य हैं इसीलिए डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने समन्वयवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए उपरोक्त सभी सिद्धान्तों का महत्त्व स्वीकार किया है।

5.10 लोकगाथाओं के विकास की अवधारणा :

डॉ० शम्भुनाथ सिंह सामूहिक गीत-नृत्य से ही काव्य, संगीत, नृत्य, रूपक आदि का विकास मानते हैं। उनके अनुसार महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, गीति-काव्य आदि इस विकास की सबसे अन्तिम कड़ियां हैं। प्रथम अवस्था में सामूहिक गीत-नृत्य मानव की मूल आनन्दवृत्ति से पैदा हुए। द्वितीय अवस्था में गीत-नृत्यों के साथ आख्यानात्म गीत जुड़ गए। तृतीय अवस्था में लोकगाथाएं चारण गाथाओं और लोक गाथाओं के रूप में विभाजित हो गईं। चतुर्थ अवस्था में लोक गाथाओं का विस्तार बड़े भूखण्ड में हो जाने से तथा मौखिक परम्परा से संवरण करने के कारण इन्होंने अलग-अलग स्थानों पर भिन्न रूप धारण कर लिए। कालान्तर में इन लोकगाथाओं की घटनाओं और पात्रों में भी प्रादेशिक प्रभाव से अन्तर आ गया। इस प्रकार अनेकानेक उपगाथाओं और कथाओं का संग्रह होकर वे किसी कवि के विषय बनकर 'ओडेसी इलियड' या 'महाभारत' के समान महाकाव्यों का रूप धारण कर गईं।

हिन्दी में 'लोकगाथा' शब्द का प्रयोग भले ही 'बैलेड़' के समानन्तर किया जाता है परन्तु 'लोकगाथा' शब्द की व्याप्ति अधिक है। अंग्रेजी में 'बैलेड़' की परिभाषाएँ 'बैलेड़' को ऐसे कथात्मक लोकगीत बताती हैं जिनमें एक ही घटना अथवा प्रसंग का नाटकीय प्रस्तुतीकरण होता है। फ्रांसिस जेम्स चाइल्ड द्वारा संकलित 'इंग्लिश एण्ड स्कॉटिश बैलेडस' पुस्तक में लगभग तीन सौ बैलेड़स संकलित है जिन पर यह परिभाषा लागू होती है।

5.11 लोकगीत और लोकगाथा में साम्य-वैषम्य :

'लोकगीत' और 'लोकगाथाओं' में मुख्य रूप से दो भिन्नताएं हैं (1) स्वरूपगत,

(2) विषयगत। 'लोकगीत' आकार में छोटा होता है और 'लोकगाथा' लम्बी। कुछ अपवाद स्वरूप 'लोकगाथाएँ' छोटी हो सकती हैं परन्तु उनमें कथा तत्त्व अनिवार्य रूप से रहता है जो उनके आकार को बढ़ाता है। 'लोकगीतों' को 'भावगीत' भी कह सकते हैं क्योंकि इनमें व्यक्ति विशेष का सांगोपांग वर्णन रहता है। 'लोकगीत' अथवा 'फोक सोंग' हम उस विशुद्ध 'लोकगीत' को कहेंगे जिसमें भाव-विचार की उन्मुक्त अभिव्यक्ति होती है। अन्य कथात्मक 'लोकगीत' गीतकथा अथवा कथागीत बैलेड' या 'लोकगाथा' कहे जा सकते हैं।

अंग्रेजी में 'इपिक ले' (Epic Lay) शब्द ऐसे कथागीतों के लिए प्रचलित है जिनमें पौराणिक गाथाएं, वीरगाथाएं, रोमांटिकगाथाएं तथा धर्मगाथाएं भी आ जाती हैं। इस प्रकार अंग्रेजी का यह शब्द लोकगाथाओं के स्वरूप को बेहतर ढंग से व्यक्त करता है। सामान्य रूप से लोकगाथाएं सृष्टि विषयक, वीरता विषयक, रोमांच और रोमांस विषयक हो सकती हैं। इस प्रकार 'लोकगीत' जहां मुख्यतः भाव प्रधान रहते हैं, 'लोकगाथा' कथा प्रधान होती है।

लोकगीत और लोकगाथाएं मूलतः लोकसाहित्य का अंग हैं इसलिए इनमें समानता भी है। दोनों गेय हैं, दोनों की उत्पत्ति का कारण सामाजिक या समष्टिगत है, दोनों के रचियता अज्ञात होते हैं, दोनों में स्थानीय तत्त्व तथा मौखिकता का गुण रहता है। रचियता के व्यक्तित्व का अभाव दोनों में रहता है। लोकगाथाओं और लोकगीतों के प्रामाणिक मूलपाठों में पर्याप्त अन्तर हो जाता है, समय के साथ-साथ उनमें अनेक नए तत्त्वों का मिश्रण हो जाता है। संगीत और नृत्य भी किसी न किसी रूप में इन दोनों में रहते हैं। अलंकृत शैली का अभाव, स्वाभाविक प्रवाह दोनों में अपेक्षित हैं। लम्बे कथानक प्रबंध - गीतों और लोकगाथाओं के ही होते हैं। लोकगाथाओं में लोकगीतों के सारे विषय समाविष्ट हो जाते हैं किन्तु लोकगीतों में लोकगाथाओं के सारे विषय नहीं आ सकते। लोकगीतों में संगीत तत्त्व की अधिकता रहती है परन्तु लोकगाथाओं में भी संगीत का पूर्णतया अभाव नहीं रहता। लोकगीतों में भावानुसार संगीत की शैली बदलती जाती है जबकि लोकगाथाओं में संगीतात्मकता एक समान रहती है।

5.12 लोकगाथाओं का वर्गीकरण :

किसी देश अथवा क्षेत्र की लोकगाथाओं का वर्गीकरण करते समय क्षेत्रीय विशेषताओं को ध्यान में रखना पड़ता है। लोकगाथाओं के क्षेत्र में डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने इंग्लैंड की लोकगाथाओं का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है -

6.1 ट्रैडिशनल बैलेड्स या परम्परागत लोकगाथाएं - ये ऐसी बैलेडस हैं जो मौखिक

परम्परा से अज्ञान प्राचीनतम काल से चली आई हैं और जिनके रचियता अज्ञात हैं।

6.2 चारण लोकगाथाएं (मिन्स्ट्रेल बैलेड्स) ऐसी लोकगाथाएं जो मध्ययुग में पैदा हुई तथा फ्रांसिस चाइल्ड़ और फिटैज ने जिन्हें परम्परागत लोककथाओं से भिन्न माना है।

6.3 प्रकाशित गाथाएं (ब्राडसाइड बैलेड्स) मुद्रण यन्त्र के पश्चात् की नाम सहित प्रचारित लोकगाथाएं जिन पर रचियता का नाम रहता था। इन्हें स्टाल बैलेड्स का नाम भी दिया गया।

6.4 साहित्यिक बैलेड्स (लिट्रेरी बैलेड्स) शेक्सपीयर, ब्राउनिंग, वाल्टर स्कॉट, टैनिसन, वर्डसवर्थ और स्विनबर्न आदि ने सुसंस्कृत लोकगाथाएं लिखी हैं।

इस विभाजन को स्थूल रूप से दो वर्गों में समेटा जा सकता है साहित्यिक गाथाएं जो अलंकृत, कलात्मक, सुसंस्कृत तथा प्रकाशित हैं तथा किसी कवि विशेष द्वारा लिखी गई हैं। दूसरी लोकगाथाएँ जो सम्बद्धित, अनलंकृत, परम्परानुगत मौखिक रूप से प्रचारित होती रही हैं। प्रकाशित कर देने पर इन्हें प्रकाशित भी कह सकते हैं। हिन्दी में परम्परानुगत लोकगाथाएं, चारण गाथाएं, साहित्यिक-कलात्मक प्रकाशित लोकगाथाएं समान रूप से प्राप्य हैं।

अंग्रेज विद्वान गूमर ने लोकगाथाओं को छः भागों में बांटा है :

1. प्राचीनतम लोकगाथाएं (ओल्डेस्ट बैलेडस)
2. कौटुम्बिक गाथाएं (बैलेड्स ऑफ किनशिप)
3. शोकपूर्ण एवं अलौकिक गाथाएं (लीजैण्डरी बैलेडस)
4. निजन्धरी गाथाएं (लीजैण्डरी बैलेड्स)
5. सीमान्त गाथाएं (वार्डर बैलेड्स)
6. आरण्यक गाथाएं (ग्रीनवुड बैलेड्स)

यह वर्गीकरण लोकगाथाओं को वैज्ञानिक ढंग से विभाजित नहीं करता क्योंकि 'कौटुम्बिक लोकगाथा' वर्ग मान लेने से पारिवारिक जीवन के सामान्य प्रसंगों यथा सास बहु के झगड़े, बहु का अपने मायके के लिए तड़पना आदि भी 'लोकगाथा' कहलाएंगे जो 'लोकगीतों' के विषय मूल रूप में हैं। 'शोकगीत' आदि की 'लोकगाथाएँ' समस्त करूण प्रसंगों को समेट लेंगी इससे भी 'लोकगीत' और 'लोकगाथा' की विभाजक रेखा अस्पष्ट होगी। सीमान्त गाथा में इतर क्षेत्र में प्रचलित

'लोकगाथाओं' का अध्ययन किया जा सकता है जैसे कि जम्मू में पंजाब, हिमाचल और कश्मीर वादी तथा लेह-लद्दाख से अनेक लोकगाथाएं संवरण करती पहुँची है।

भारतीय सन्दर्भ में विशेषकर जम्मू-कश्मीर के सन्दर्भ में तीन प्रकार की लोकगाथाएं ही प्रमुख हैं -

1. वीरगाथात्मक लोकगाथाएं।
2. प्रेम कथात्मक लोकगाथाएं।
3. रोमांचपरक लोकगाथाएं।

कहीं-कहीं सिद्धों और योगियों के प्रभाव से योगपरक लोकगाथाएं भी आ गई हैं यथा 'भरथरी' और 'गोपीचन्द' की कथाएं। इसके अतिरिक्त धार्मिक लोकगाथाओं को भी इनमें लिया जा सकता है। डॉ० 'सम्पत्ति आर्याणी' ने मागधी लोकगाथाओं के सन्दर्भ में अलौकिक व्यक्तित्व प्रधान लोकगाथाओं का नया वर्ग इनमें जोड़ा है।

डॉ० 'पद्मचन्द कश्यप' ने पहले तो आकार की दृष्टि से लोकगाथाओं को लघुकथा और वृहद्गाथा के दो वर्गों में बांटा है तत्पश्चात् विषय की दृष्टि से निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है-

1. धार्मिक लोकगाथाएं 2. वीर गाथाएं 3. पौराणिक एवं ऐतिहासिक लोकगाथाएं 4. प्रेम कथात्मक लोकगाथाएं।

इसी प्रकार 'गोविन्द चातक' ने भी धर्म, वीर और प्रेमपरक लोकगाथाओं को ही मान्यता दी है। जम्मू कश्मीर में लोकगाथाओं के धर्म, वीर, प्रेम, रोमांच और योगपरक रूप मिल जाते हैं।

'रूल्लैंह दी कूहल', 'गल्लां होई बीतियां' बार-ढोल बादशाह दी', 'बावा भैड दी कारक' आदि प्रसिद्ध लोकगाथाएं हैं।

5.13 लोकगाथाओं की विशेषताएँ :

लोकगाथाओं के स्वरूप पर विचार करते हुए इनकी निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान जाता है - (1) अज्ञात रचयिता (2) प्रामाणिक मूलपाठ का अभाव (3) संगीत-नृत्य का सहयोग (4) स्थानीय रचयिता (5) मौखिक परम्परा (6) अलंकृत शैली का अभाव (7) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव (8) रचियता के व्यक्तित्व का अभाव (9) टेक पदों की पुनरावृत्ति (10) लम्बी छोटी

कथा (11) संदिग्ध ऐतिहासिकता (12) लोककण्ठ पर अवस्थित (12) कतिपय लोक अलंकारों, कहावतों, मुहावरों आदि की आवृत्ति।

1. **अज्ञात रचयिता :** प्राचीनतम परम्परागत लोकगाथाएं ही नहीं अनेक मध्यकालीन लोकगाथाओं के रचयिता भी अज्ञात हैं। लोकगाथाएं व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों द्वारा मिलकर रची जाती रहीं और कालान्तर में उन्हें अन्य लोग परिवर्द्धित एवं परिवर्तित करते रहे। क्षेत्रीय परिस्थितयों के अनुसार इनमें नए अंश जुड़ते और पुराने छूटते भी रहे हैं। वास्तव में रचयिता लोक में प्रचलित कथाओं को शब्द देकर अलग हो जाता था और मौखिक परम्परा से लोक ही उसे आगे बढ़ाता और अपनाता था। वह लोक की वस्तु बन जाती है।

2. **प्रामाणिक मूलपाठ का अभाव :** अधिकांश लोकगाथाएं अप्रकाशित एवं लोककण्ठ में स्थित रहने के कारण बदलती रही हैं, उनका प्रामाणिक पाठ प्रायः प्राप्य नहीं है। एक ही लोकगाथा विभिन्न रूपों में प्रचलित दिखाई पड़ती है।

3. **संगीत-नृत्य का सहयोग :** संगीत और नृत्य लोक की थाती हैं और प्राचीनतम काल से ही मनुष्य इनके द्वारा अपना मनोरंजन करता आया है। लोकगाथाओं में क्रमशः नृत्य तत्व समाप्त हो गया और कथा-तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण होता चला गया। संगीत आज भी लोकगाथाओं का अभिन्न अंग है। ढोल, नगाड़ा, मजीरा, सारंगी, चिकारा आदि वाद्य प्रयोग किए जाते हैं।

4. **स्थानीय रचयिता :** लोकगाथाएं क्षेत्र-विशेष में बसे लोगों की आस्थाओं, विश्वासों, ऐतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों और साहसी युवकों से सम्बन्धित होती हैं इसलिए इनकी रचना क्षेत्रीय स्तर पर ही अधिकतर होती है।

5. **मौखिक परम्परा :** लोकगाथाएं प्राचीनतम काल से मौखिक रूप से संवरण करती हुई हम तक पहुँची हैं। अनेक बार ऐसा भी हुआ है कि इन्हें लिपिबद्ध कर प्रकाशित करवा दिया गया परन्तु फिर भी इनका मौखिक रूप क्षेत्रीय गायकों के कण्ठों में जीवित रहा।

6. **अलंकृत शैली का अभाव :** लोकगाथाओं का शिल्प अत्यधिक सहज एवं अनलंकृत होता है। भाषिक स्थिरता भी इनमें नहीं होती क्योंकि स्थान-स्थान पर गाए जाने के कारण इनकी भाषा बदलती रहती है।

7. **उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव :** लोकगाथाओं में गायक कथा को आगे बढ़ाने का प्रयास करता है इसलिए उपदेश के लिए अवसर नहीं निकाल पाता क्योंकि ऐसा करने से कथा का रसभंग होता है। लोकगाथाओं का चारण, डाढ़ी अथवा अन्य गायक देशभक्ति, साहसिक कृत्य, शौर्य, प्रेम, आदर्श आचरण आदि की कथा द्वारा परोक्ष रूप से समाज को शिक्षित करता है।

8. **रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव :** लोकगाथाओं में रचयिता का व्यक्तित्व इस प्रकार घुलमिल जाता है और लोक उसे इस प्रकार आत्मसात कर लेता है कि उसका अलग से कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। भले ही लोकगाथा किसी व्यक्ति विशेष की कृति रही हो परन्तु लोक मानस की अविकृत छवि उसमें रहती है इसलिए लोक उसे अपना लेता है। 'श्लेगल' मानते हैं कि लोकगाथाओं में लेखकीय व्यक्तित्व अनुस्यूत रहता है परन्तु अज्ञात लेखक जिन भावों को लोकगाथा में भरता है समय के साथ उनमें इतना कुछ जुड़ या कट जाता है कि वह लोक की कृति बन जाती है।

9. **टेक पदों की पुनरावृत्ति :** लोकगाथा गायक, कथा को सीधे गाता नहीं चलता। वह कुछ मार्मिक प्रसंगों को गाता है और कुछ टेक पदों को बार-बार दुहराता है जिससे माधुर्य, आकर्षण और एकस्वरता बनी रहे। ऐतिहासिक गाथाओं में इसके लिए कम अवसर होता है।

10. **लम्बा कथानक :** प्रायः लोकगाथाओं में लम्बे कथानक लिए जाते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में 'गुग्गा गाथा' का विशेष महत्त्व है। 'भरथरी' और 'गोपीचन्द' की गाथाएं भी आम हैं। कुछ लघु उपगाथाओं पर आधारित गाथाएं छोटे कथानक वाली भी हो सकती हैं।

11. **संदिग्ध ऐतिहासिकता :** लोकगाथाओं के नायक पौराणिक, अलौकिक, कल्पित अथवा ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। लोक में जो छवि नायक की है उसी का गायन लोक गाथा करती है, इतिहास के तथ्यों से उसका मेल हो ही यह आवश्यक नहीं है।

12. **लोककण्ठ पर अवस्थित :** 'लोक साहित्य' मूलतः 'लोक मानस' की अभिव्यक्ति है इसलिए 'लोक' का लाड़ला है। इसका प्रचार प्रसार आदिम काल से मौखिक परम्परा से होता आया है। 'आल्हा खण्ड' की कथा के अनेक रूप मौखिक

परम्परा से चले आ रहे हैं भले ही वह लिपिबद्ध होकर प्रकाशित रूप भी धारण कर चुका है।

13. **कहावतों और मुहावरों का सहज अंलकरण :** लोक निरीक्षण और लोकानुभव पर आधारित लोक साहित्य में कहावतों और मुहावरों का स्वच्छन्द प्रयोग सहज ही होता है।

5.14 सारांश

इस प्रकार 'लोक' शब्द की व्याख्या करने पर निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यह शब्द उस विशेष जन-समूह का वाचक है जो साज-सज्जा, सभ्यता, शिक्षा, परिष्कार आदि से दूर आदिम मनोवृत्तियों के अवशेषों से युक्त परिधि को समाविष्ट करता है।

लोकगाथाओं पर समग्र रूप से विचार करते समय यह कहा जा सकता है कि 'लोकगाथा', 'लोक साहित्य' का वह अंग है जो गाथा और गीत के सहारे लोक-मनोरंजन करने के साथ-साथ लोक की ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक, रोमांटिक, साहसिक गतिविधियों का आकलन करता रहा है। जातिय-जीवन के दर्पण के रूप में लोकगाथाओं को लिया जा सकता है।

5.15 कठिन शब्द

1) विशिष्ट	2) सुकृत्य
3) जनश्रुतियों	4) उपाख्यान
5) सूक्ष्म	6) पौराणिक
7) समाविष्ट	8) सामूहिक
9) सुनिश्चित	10) अपौरूणेय

5.16 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरापेक्षी

1) लोक गाथा क्या है? इसकी विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करते हुए सर्वसम्मत परिभाषा दीजिए।

----

2) लोक गाथा के स्वरूप पर विचार करते हुए लोकगाथा के तत्वों पर प्रकाश डालिए।

----

3) 'लोक गाथा' की विशेषताओं पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरापेक्षी

1) पाश्चात्य सन्दर्भ में लोकगाथा के स्वरूप पर विचार करें।

----

2) लोकगाथा एवं लोकगाथाओं के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालें।

----

3) लोकगाथाओं की किन्हीं दो विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

5.17 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1) महाराष्ट्र में शिवाजी और नानाजी के कथात्मक गीत को .... कहते हैं।

----

2) अंग्रेज़ी में लोक-गाथा को क्या कहतें हैं।

----

3) लोकगीत और लोक गाथा की कोई दो विभिन्नताएँ बताएँ।

----

4) प्रसिद्ध विद्वान गूमर ने लोकगाथाओं को किन छः भागों में बांटा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1) लोक साहित्य के प्रतिमान - डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती

2) भारत में लोक साहित्य - डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय

3) लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय

4) लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग - डॉ. श्रीराम शर्मा।

शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य

रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 शिष्ट साहित्य की अवधारणा

6.4 लोक साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप

6.5 लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य में अन्त: सम्बन्ध

6.6 शिष्ट साहित्य पर लोक साहित्य की छाप-हिन्दी साहित्य सन्दर्भ

6.7 लोक-साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न और शिष्ट साहित्य के प्रतिमान

6.8 लोक साहित्य का क्षेत्र

6.9 लोकाभिव्यक्ति के विभिन्न रूप

6.10 लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का अन्तर

6.11 लोक साहित्य का महत्व

6.12 सारांश

6.13 कठिन शब्द

6.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.15 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

6.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में हम 'लोक साहित्य' और 'शिष्ट साहित्य' पर विचार करेंगे। 'लोक साहित्य', लोक के उद्भव के साथ ही पैदा हुआ इसलिए अत्यधिक प्राचीन है, इतिहासपूर्व युग से चला आ रहा है। 'शिष्ट साहित्य', शिष्ट समाज में उत्पन्न हुआ और क्योंकि शिष्ट समाज का निर्माण अपेक्षाकृत नया है इसलिए 'शिष्ट साहित्य' भी 'लोक साहित्य' के मुकाबले नया है। 'साहित्य'

क्या है तथा 'लोक' और 'शिष्ट' विशेषण लगा देने से इसके स्वरूप में क्या परिवर्तन आता है, सर्वप्रथम हम इसी पर विचार करेंगे। तदनन्तर हम 'लोक साहित्य' के उत्स, स्वरूप और विशेषताओं पर विचार करेंगे और देखेंगे कि अपने उत्स, स्वरूप और विशेषताओं में यह साहित्य 'शिष्ट साहित्य' से कैसे भिन्न है और इनमें क्या साम्य है। दोनों प्रकार के साहित्य के साम्य-वैषम्य पर विचार करने के पश्चात दोनों के अंतः सम्बन्धों पर विचार किया जाएगा। अन्त में 'लोक साहित्य' के महत्त्व को दर्शाते हुए यह स्पष्ट किया जाएगा कि शिष्ट साहित्य किस प्रकार से लोक साहित्य का ऋणी है।

6.2 प्रस्तावना

प्राचीन काल में साहित्य के स्थान पर 'काव्य' शब्द सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता था इसीलिए भामह, राजशेखर, भोजराज, कुन्तक आदि आचार्यों ने 'काव्य' की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव में ही 'साहित्य' की उपस्थिति स्वीकार की। 'काव्य' का अर्थ-संकोच होने पर 'कविता' के लिए केवल 'काव्य' और शेष वाङ्मय के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा जिसमें 'काव्य' भी शामिल था। अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द के पर्याय के रूप में साहित्य, समस्त लिखित एवं मौखिक रचनाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को 'ज्ञान का साहित्य' तथा कविता आदि को भावना का या शक्ति का साहित्य कहकर सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में बाँटा है। ज्ञान के साहित्य का लक्ष्य मात्र सिखाना या शिक्षित करना रहता है तो भाव या शक्ति के साहित्य का लक्ष्य जागृत करना या आनन्दित करना रहता है। मूल रूप से 'साहित्य' में शब्द और अर्थ का साहचर्य रहता है, वह हमारे सौंदर्यबोध को अभिव्यक्त भी करता है और उसे परिष्कृत भी करता है तथा हमें आनन्द देता है। डॉ० 'गणपति चन्द्र गुप्त' के अनुसार 'साहित्य' की समन्वित परिभाषा निम्न-रूप में दी जा सकती है- ''साहित्य, भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य व आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य पाठक को आनन्द की अनुभूति होती है।''

साहित्य और साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान की रचनाओं में अन्तर स्थायित्व, व्यक्तित्व प्रकाशन और रागात्मकता का है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई खोज, नए आविष्कार, नए सिद्धान्त पुरानी खोजों, आविष्कारों और सिद्धान्तों का स्थान लेते जाते हैं और पुराने ज्ञान का अधिकांश भाग काल बाह्य अथवा अनुपयोगी होकर नष्ट हो जाता है या गलत सिद्ध कर दिया जाता है, इस प्रकार उसमें स्थायित्व नहीं होता। साहित्य में एक ही विषय पर पचासों साहित्यकार लिखते हैं और सबका महत्त्व अपने-अपने ढंग से बना रहता है। 'रामकथा' वाल्मीकि से मैथिलीशरण गुप्त तक असंख्य लोगों ने रची

और सारे काव्य अपने ढंग से महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसा इसलिए होता है कि साहित्य में कवि का अद्धितीय व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है जो उसकी रचना को कथ्य और शिल्प की दृष्टि से अलग पहचान देता है। भाव-प्रवण साहित्य में कवि-व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उसका जीवन-दृष्टिकोण, विचारधारा, ज्ञान-कोष अनुभूतियाँ तथा उसके संस्कार उसकी रचना में परिलक्षित होते हैं। ज्ञान के साहित्य को वस्तुनिष्ठ होना पड़ता है। 'रागात्मकता' साहित्य को अलग पहचान देती है। साहित्य में निर्जीव और शुष्क तथ्यों का वर्णन नहीं होता अपितु भावनाओं और अनुभूतियों का प्रकाशन होता है जो मानव मात्र में शाश्वत रूप से विद्यमान रहती हैं। अपनी भावोत्पादनी क्षमता के कारण ही साहित्य, साहित्य है।

6.3 शिष्ट-साहित्य की अवधारणा

जिस साहित्य से हम अपनी पाठ्य-पुस्तकों एवं पाठ्यक्रमों के माध्यम से परिचित होते हैं वह प्राय: परिनिष्ठित या शिष्ट साहित्य- ही होता है। 'परिनिष्ठित साहित्य' निश्चित रूप से लिखित होता है जबकि 'लोक साहित्य' मौखिक परम्परा से ही चलता आया है। रचित 'लोक-साहित्य' कभी-कभी लिखित रूप में भी प्राप्त हो जाता है। जनपदीय जनों द्वारा जन भाषा में रचित होने के कारण 'लोक-साहित्य' की भाषा स्वतन्त्र-जीवित लोक-भाषा होती है; जबकि 'परिनिष्ठित साहित्य' की भाषा का रूप सुसंस्कृत, तत्सम, शास्त्रीय नियमों में जकड़ा अव्यावहारिक होता है। 'शिष्ट साहित्य' की एक और विशेषता यह है कि यह शास्त्रीय मर्यादाओं में बंधकर चलता है। काव्य-शास्त्र, समाज शास्त्र तथा सौन्दर्य शास्त्र के कतिपय बन्धनों को स्वीकार करते हुए यह 'शिष्ट साहित्य' आगे बढ़ता है। 'लोक-साहित्य' को 'शिष्ट साहित्य' का जनक भी कहा जा सकता है। शिष्ट साहित्य की भाषा सुसंस्कृत, तत्सम, शास्त्रीय नियमों में जकड़ी रहती है और जीवन से दूर चली जाती है, अव्यावहारिक बन जाती है। 'शिष्ट साहित्य' का रचयिता ज्ञात होता है और वह यश, धन, मान तथा आत्माभिव्यक्ति के आनन्द के लिए साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होता है। 'शिष्ट साहित्य' प्रयत्नज होता है, निश्चित लक्ष्य को लेकर लिखा जाता है। वामपंथी विचारधारा तो 'साहित्य' को सामाजिक परिवर्तन के औजार के रूप में सजग होकर प्रयोग करने पर बल देती है।

6.4 लोक साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप

'शिष्ट साहित्य' पढ़े-लिखे, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, सभ्य-सुसंस्कृत लोगों का सजा-संवरा, कटा-छंटा एवं अनुशासित, मर्यादित साहित्य है, इसके विपरीत 'लोक साहित्य' लोकमानस की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है जो प्राय: मौखिक रूप से विकसित होता है, भले ही उसे किसी

व्यक्ति विशेष ने रचा हो पर कालान्तर में सामान्य लोक समूह उसे अपना ही मानने लगता है और उसमें लोक की युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है।

निश्चय ही 'लोक साहित्य' मौखिक साहित्य है। इसके रचयिता का पता नहीं होता। किसी व्यक्ति के द्वारा रचा गया साहित्य पीढ़ी-दर-पीढी मौखिक परम्परा से जीवित रहता हुआ आज भी हमारे सामने है और भविष्य में भी जीवित रहेगा। 'लोक साहित्य' में मानव-जाति के परंपरागत आचार-विचार, रीति-रिवाज सुरक्षित रहते हैं। 'लोक साहित्य' को आधार बनाकर किसी जाति, समाज, स्थान, देश का इतिहास भी लिखा जा सकता है। शिष्ट या अभिजात साहित्य का स्त्रोत भी यही 'लोकसाहित्य' है। समाज शास्त्री श्यामाचरण दूबे के अनुसार, ''आधुनिक काल के अपेक्षाकृत विकसित साहित्य की धारा का परंपरागत स्त्रोत हमारे लोक-साहित्य में है। अधिकांशतः मौलिक एवं अलिखित यह साहित्य हमारी विविध लोक संस्कृतियों का दर्पण है और इसमें हमारे परंपरागत विश्वास, आचार-विचार और प्रथाएं हमारे लोक जीवन का सुख और दुःख तथा हमारा भूत और वर्तमान, सब सुरक्षित हैं।'' 'लोकसाहित्य' की भाषा सहज, सरल, अकृत्रिम तथा अलंकृत भाषा होती है। यह 'साहित्य' आम तौर पर जनपदीय भाषा में रचा जाता है जिसमें माटी की आदिम गन्ध अनुभव की जा सकती है, 'लोक-साहित्य' के पांवों में व्याकरण और काव्य-शास्त्र के कठोर बन्धन नहीं रहते और वह अपनी सहज गति से आगे बढ़ती जाती है। 'लोक-साहित्य' के प्रकृति-प्रसूत रूप में कला एवं शास्त्रीय नियमों की पच्चीकारी करके 'शिष्ट साहित्य' का रूप संवारा जाता है।

'लोक साहित्य' को 'रामनरेश त्रिपाठी' ने 'ग्राम साहित्य' कहना अधिक उचित समझा क्योंकि 'देवेन्द्र सत्यार्थी' को लिखे एक पत्र में उन्होंने कहा था, ''लोकगीत से मैं ग्रामगीत को अधिक सार्थक समझता है। 'ग्राम' शब्द में जो पवित्रता है वह 'लोक' में नहीं। त्रिपाठी जी का 'ग्रामगीत' शब्द प्रचलित नहीं हो सका और अंग्रेजी के 'फोक लिटरेचर' शब्द का पर्याय 'लोक साहित्य' ही चलता आया है। 'फोकलोर' शब्द कुछ ज्यादा व्यापक है क्योंकि उसमें 'देवेन्द्र सत्यार्थी' के अनुसार, ''लोकगीत, लोककथा, लोक-नृत्य, लोक नाटक और लोक उत्सव जिसमें समा जाए उसे अंग्रेजी में 'फोकलोर' कहते हैं।' डॉ० 'सुनीति कुमार चटर्जी' ने 'फोकलोर' का अनुवाद 'लोकायान' किया है। 'कृष्णानंद गुप्त' तो 'लोकवार्ता' शीर्षक से एक पत्रिका ही निकालते थे और 'फोकलोर' का अनुवाद 'लोकवार्ता' करते थे। 'देवेन्द्र सत्यार्थी' ने 'लोकयान' शब्द को उपयुक्त मानते हुए 'लोक' की व्याख्या से इसे निम्नरूप में जोड़ा-

''लोक' शब्द की व्युत्पति 'लो' और 'क' से मिलकर हुई। लो अर्थात पुरुष, वस्तु अथवा देश। 'क' अर्थात कमनीयता एवं सौन्दर्य। 'यान' वाहन को कहते हैं। 'लोकयान' अर्थात देश के

सौन्दर्य एवं ज्ञान का वाहन, जो सत्य, शील और कल्याण को पीढ़ियों के अन्तर्गत युग-युगांतर तक अग्रसर करता रहता है।'' सत्यार्थी जी और सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा प्रचारित 'लोकयान' या 'लोकायन' शब्द साहित्य में अधिक मान्यता नहीं कर सके। इसलिए देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'लोकवेद' शब्द गढ़ा। उन्होंने लिखा, ''फोकलोर' के लिए लोक-साहित्य रिजैक्ट, लोकवार्ता भी रिजैक्ट। फिर लोकयान की भी छुट्टी। हैलो 'लोकवेद'। ....चार वेद.......पांचवां लोकवेद। शायद लोकवेद अपना लोहा मनवा ले।'' सत्यार्थी जी 'लोक-साहित्य' के प्रति इतने समर्पित थे कि इसे 'वेद' का दर्जा देने को तैयार थे। यदि 'फोकलोर' के अन्तर्गत लोकगीत, लोककथा, लोक-संगीत, लोकनृत्य, लोक-उत्सव आदि को सम्मिलित माना जाता है तो 'लोक-साहित्य' या 'लोकवार्ता' जैसे शब्द सचमुच अधूरे लगते हैं। 'लोकायन' या 'लोकवेद' जैसा कोई शब्द अपनाना होगा।

'लोक' को जनपद या ग्राम तक सीमित करने के प्रयास का विरोध 'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी' जी ने यह कहकर किया कि, '' 'लोक' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नही हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचिसम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं। उन को उत्पन्न करते हैं।''

डा० कृष्णदेव उपध्याय का मत है कि '' 'फोकलोर' के संदर्भ में 'फोक' का अर्थ असंस्कृत लोक है।'' वे इस सम्बन्ध में अंग्रेजी शब्द 'फोकलोर' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ समझाते हुए ही यह अर्थ निकालते हैं। 'फोक' का अर्थ असंस्कृत लोग, तथा 'लोर' शब्द का अर्थ 'सीखा गया' अथवा ज्ञान है। इस प्रकार 'फोकलोर' का अर्थ हुआ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान।'

'लोक साहित्य', 'लोक वार्ता' का पर्यायवाची नहीं बल्कि उसका एक अंश मात्र है। 'लोकसाहित्य' आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अंहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है उसी 'लोक' का साहित्य 'लोक साहित्य' है, और उसी का अभिव्यक्ति-तत्व लोकत्व है। डॉ० सत्येन्द्र के मतानुसार 'लोक', साहित्य और पाण्डित्य, चेतना तथा अहंकार शून्य और परम्परा के प्रवाह में रहने वाला मनुष्य समाज का वर्ग है।

समस्त लोक-अभिव्यक्ति 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत आयेगी। लोकाभिव्यक्ति के प्रेरक स्रोत भिन्न-भिन्न तीन स्तरों में पोषण, तोषण और मोदन हैं। पोषण, तोषण और अभिव्यक्ति का

वाणी रूप 'लोक साहित्य' है। अत्यन्त आदिम अभिव्यक्ति से लेकर 'शिष्ट साहित्य' की सीमा तक पहुंचने वाली समस्त अभिव्यक्ति 'लोकसाहित्य' के अन्तर्गत आ जाती है। प्रतिपादित मत का स्पष्टीकरण करने से यह विदित हो जाता है कि आज भी आदिम से लेकर श्रेष्ठतम मनोवृत्ति तक से निःसृत साहित्य एक साथ प्राप्त होते हैं। लोकतत्व किसी न किसी मात्रा में प्रत्येक युग में प्रत्येक प्रकार के साहित्य में भी मिलता ही है। अतः उपर्युक्त कथन का भाव यही है कि लोकतत्त्व जहां-जहां प्रधानता से विद्यमान है वहां 'लोक साहित्य' स्वीकार करना होगा। 'लोक-साहित्य', जो लिपिबद्ध होकर परिमित है, उसे भी लोक तात्विक अभिव्यक्ति के अंशों की बहुलता के कारण 'लोक साहित्य' के अंतर्गत ही मानना चाहिए। इस प्रकार 'लोक साहित्य' की परिभाषा की सीमाओं में जहां मौखिक परम्परा का 'साहित्य' मुख्य रूप से आता है वहीं पर 'लिपिबद्ध साहित्य' तथा 'विशुद्ध साहित्य' का भी वह अंश जो 'लोक' को अभिव्यक्त करता है, 'लोक साहित्य' में सिमट आता है। लिपिबद्ध रूप में वह शैली की दृष्टि से विशुद्ध या 'शिष्ट साहित्य' है तो कथ्य लोकतात्विक होने से और लोकमानस से जुड़ा होने से 'लोक साहित्य' का माना जाएगा। डॉ० 'सत्येन्द्र' के अनुसार ''लोक साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिमानस के अवशेष उपलब्ध हों और परम्परागत अलिखित बोलियां जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोकमानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। कृतित्व हो किन्तु लोकमानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो उसे किसी व्यक्तित्व के साथ संबद्ध रहते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।''

कुछ साहित्यिक रचनाएँ 'लोक' से प्रेरित प्रभावित होती हैं परन्तु उनकी रचना शुद्ध साहित्य के रूप में रचनाकार विशेष द्वारा की जाती हैं। मध्यकालीन संत-भक्तों की बहुत सारी रचनाएँ अत्यन्त सहज और सरल हैं। भावुक भक्तों और धार्मिक मनोवृत्ति के लोगों के बीच उनकी एक मौखिक परम्परा भी है फिर भी इस 'साहित्य' को हम 'लोक साहित्य' स्वीकार नहीं करते। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- ''ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोक चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं, वे ही लोक साहित्य, लोक-शिल्प, लोक-नाट्य, लोक-कथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं। लोक चित्त से तात्पर्य उस जनता के चित्त से है जो परम्परा-प्रथित और बौद्धिक विवेचनापरक शास्त्रों और उन पर की गई टीका टिप्पणियों के साहित्य से अपरिचित होता है।'' डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि- ''लोक-साहित्य पोथी ज्ञान से विलग रहने वाले लोकमानस की अभिव्यक्ति का साहित्य है। लोक साहित्य को ठीक से समझने के लिए दो अन्य साहित्य प्रकारों को भी ध्यान

में रखना होगा-एक तो लोकभाषा का सहित्य दूसरा लोक-चेतना का साहित्य।''

लोकभाषा में व्यक्ति-विशेष द्वारा रचा गया साहित्य 'शिष्ट साहित्य' है क्योंकि परिनिष्ठित भाषा के साहित्य की रचनागत सतर्कता इसमें रहती है। न इसे मौखिक परम्परा का लाभ मिलता है और न ही यह लोक-संस्कृति का अनिवार्य रूप से दर्पण होता है।

लोक-चेतना से अनुप्राणित 'साहित्य' अपनी मूल प्रेरणा 'लोक-साहित्य' से ग्रहण करता है परन्तु इसका ऊपरी ढांचा साहित्य की शास्त्रीय मर्यादाओं पर आश्रित होता है। इस साहित्य को 'लोक-साहित्य' का पालिश किया हुआ रूप कह सकते हैं परन्तु यह वास्तविक 'लोक-साहित्य' नहीं है। 'पंचतन्त्र' और 'दशकुमार चरित' रचनाएँ इस कोटि के साहित्य के अंतर्गत आती हैं। 'हाल' कवि की 'सतसई' लोकचेतना द्वारा अनुप्राणित है। अंग्रेजी की 'लिट्रेरी बैलेड' भी इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक' को स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''आधुनिक सभ्यता से दूर, अपनी सहज तथा प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान, तथाकथित असभ्य एवं अशिक्षित जनता को लोक कहते हैं, जिनका जीवन-दर्शन और रहन-सहन प्राचीन परम्पराओं, विश्वासों तथा आस्थाओं द्वारा परिचालित एवं नियंत्रित होता है।''

वास्तव में सभ्यता के प्रभावों से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में जो वर्तमान निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि अभिव्यंजना जिस 'साहित्य' में प्राप्त होती है उसे 'लोक साहित्य' कहते हैं। इस प्रकार 'लोक साहित्य' जनता का 'साहित्य' है, जनता के द्वारा और जनता के लिए लिखा गया 'साहित्य' है।

6.5 लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य में अन्तः सम्बन्ध

'साहित्य', 'लोक' से जुड़ा हो या 'शिष्ट समाज' से अन्ततः मानवीय भावनाओं, आशाओं-आकांक्षाओं, विचारों-संस्कारों, अपेक्षाओं और उद्देश्यों का दर्पण होता है। मूल वृत्तियों या भावनाओं के धरातल पर मानव-मात्र में समानता के बिन्दु रहते हैं। इसी तरह 'लोक' और 'शिष्ट साहित्य' में भी अनेक अटूट अन्तः सूत्र खोजे जा सकते हैं। 'लोक साहित्य' प्राचीनतम होने के साथ-साथ मनुष्य की मूल वृत्तियों से गहरे में जुड़ा है जबकि 'शिष्ट साहित्य' में इन्हीं मूल वृत्तियों का संस्कारित और संशोधित रूप दिखाई पड़ता है इसलिए 'लोक' और 'शिष्ट-साहित्य' में जनक-जनित का सम्बन्ध है। 'शिष्ट साहित्य' में जो विधाएँ विकसित हुई हैं उनका उत्स 'लोक साहित्य' में ही है।

कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास, काव्य-नाटक आदि सभी आधुनिक साहित्यिक विधाएं 'लोक साहित्य' से ही विकसित हुई हैं। लोककथाओं ने कथा साहित्य को जन्म दिया तो लोक नाट्यों ने रंगमंचीय और पाठ्य नाटकों को। डॉ० सच्चिदानंद तिवारी इस विषय में लिखते हैं कि-

''कालान्तर में कला के सहयोग से यही लोकगीत साहित्यिक गीत बन गए। इनमें कवि रूचि प्रधान होने लगी, फिर भी इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ बनी रहीं, जो इनके आदिम सामाजिक रूप की ओर संकेत करती हैं। इनका आकार और इनके संस्कार बहुत दिनों तक लोक-गीतों के समान ही बने रहे।''

'शिष्ट साहित्य' में प्राप्त काव्य-अभिप्रायों को समझने के लिए भी 'लोक साहित्य' की सहायता लेनी पड़ती है। 'रामकथा' और 'कृष्ण कथा' पर आधारित हिन्दी का अधिकांश साहित्य 'लोककथाओं' एवं 'लोक काव्य' में प्रचलित राम और कृष्ण विषयक असंख्य कथाओं का ही विस्तार है। 'लोकवार्ता' के असंख्य तत्त्व विद्यापति, सूर, तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त तक के काव्य में मिल जाएंगे। लोक कथाएं, लोक विश्वास, लोकानुभव आदि-सभी 'शिष्ट साहित्य' की अमूल्य निधि बनकर 'शिष्ट साहित्य' का स्वरूप निर्धारित करते हैं। 'शिष्ट साहित्य' लोक से लिए तत्त्वों की नयी व्याख्या प्रस्तुत कर देता है, उनमें परिष्कार करके उन्हें नया रूप प्रदान कर देता है। जैसे-जैसे 'शिष्ट साहित्य' शास्त्रीय मर्यादाओं में जकड़ा जाने के कारण निर्जीव और निरर्थक शब्द जाल बनने लगता है वैसे ही लोक की अदम्य जीवन शक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिए नया मार्ग खोज लेती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार उत्तरकालीन समृद्ध और शिष्ट संस्कृत साहित्य की प्रतिक्रिया में ऐसा ही भक्तिकालीन साहित्य उत्पन्न हुआ जिसमें शास्त्राभ्यास का स्थान गौण था। धार्मिक शास्त्रों के सम्बन्ध में भी कुछ सुनी-सुनाई बातें ही थीं। धीरे-धीरे शास्त्र ने इस कविता को भी जकड़ लिया और रीतिकाल तक पहुँचते-पहुँचते भावात्मक और वैचारिक दृष्टि से वह पुनः जड़ हो गयी। संस्कृत के उत्तरकालीन साहित्य से चालित रीतिकालीन काव्य नायक और नायिकाओं के और अलंकार तथा संचारी आदि भावों के पहले से निर्धारित वर्गीकरणों तक सिमट गया। जब रीतिकालीन साहित्य के साथ हम भक्तिकाल के उस साहित्य की तुलना करते हैं जो लोक जीवन से सीधा जुड़ा था तो अन्तर स्पष्ट नजर आने लगता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी इस अन्तर को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- ''मेरा मतलब गांवों में प्रचलित गीतों और कथानकों से है। वहाँ हम प्रेम और वियोग में तड़पते हुए सच्चे हृदयों का वर्णन पाते हैं। भाई से विच्छिन्न बहन की करुण-कथा; साहूकार, जमींदार और महाजन के सताये गरीबों की करुण पुकार; आन पर कुर्बान हो जाने वाले विस्मृत वीरों की शौर्य गाथा; अपहार्य माणा सती का वीरत्वपूर्ण आत्मघात; नई जवानी

के प्रेम में घात-प्रतिघात; प्रियतम के मिलन-विरह और मातृ-प्रेम के अकृत्रिम भाव इन गीतों में भरे पड़े हैं। जन्म से लेकर मरण तक के काल में और सोहाग-शयन से लेकर रणक्षेत्र तक फैले विशाल स्थान में सर्वत्र इन गानों का गमन है। यही हिन्दी भाषा की वास्तविक विभूति है। इसकी एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएं, और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होने पर भी निष्प्राण हैं। वे अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नही हैं। ये अपने-आप में परिपूर्ण हैं। मध्ययुग की हिन्दी की सुसंस्कृत समझी जाने वाली कविता में जो बात सबसे अधिक खटकने वाली है, वह है उसकी परमुखापेक्षिता।'' इस प्रकार द्विवेदी जी 'लोक साहित्य' से प्राण शक्ति लेने वाले भक्ति काव्य की जीवन्तता और शास्त्रीय परम्पराओं से निर्दिष्ट रीतिकालीन साहित्य की निर्जीवता की ओर संकेत करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि शास्त्र का लोह-पाश अन्ततः साहित्य में क्रान्ति लाता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की अतिशय शास्त्रवादिता ने अपभ्रंश के मुक्त साहित्य को जन्म दिया। लोक की सूखी हुई धारा पुनः अपभ्रंश में बह निकली। जब-जब 'शिष्ट साहित्य' परिष्कार, साज संवार और बाह्य कलात्मकता में फंसता है तब-तब उसमें उस मूल जीवन-रस की धारा का लोप होने लगता है जो प्राकृत प्रभाव से स्वच्छन्द रूप सें बहा करती है। इस प्रकार 'लोक साहित्य' को हम प्राकृत धारा कह सकते हैं जो स्वच्छन्द भाव से बहती है, जिसमें परिष्कार की छलनी लगाकर 'शिष्ट साहित्य' अपने लिए सार तत्त्व खोजा करता है। जब-जब 'शिष्ट साहित्य' लोक-साहित्य के जीवन रस से कटकर चलने लगता है तब-तब वह छूँछा रहा जाता है, उखड़े हुए वृक्ष की भांति सूखने लगता है। इस प्रकार 'शिष्ट साहित्य' को 'लोक साहित्य' का उपजीव्य स्वीकार कर लेना चाहिए। श्री हरिचंद पराशर इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि - ''शिष्ट साहित्य की प्रवृति संस्कार और परिष्कार की प्रवृत्ति है। जैसे कोल्हू सरसों के ढेर को तेल और खल में अलग-अलग कर देता है, वैसे ही शिष्ट साहित्यकार 'लोकवार्ता' अथवा 'लोक साहित्य' के ढेर में से शाश्वत और सामयिक को अलग-अलग कर देता है। संस्कार और परिष्कार की प्रवृत्ति से 'शिष्ट साहित्य' में एक वैशिष्ट्य आ जाता है, उसमें नियम और बन्धन आ जाते हैं, यह निगमात्मक हो जाता है, सरल शब्दों में वह लकीर का फकीर हो जाता है।''

6.6 शिष्ट साहित्य पर लोक साहित्य की छाप : हिन्दी साहित्य सन्दर्भ

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यदि हिन्दी के साहित्य पर विचार करें तो पाएंगे कि प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर पंत जी के 'लोकायतन' तक के महाकाव्यों में लोक कथानक,

लोक कथा अभिप्राय, लोक–छन्द, लोक–मर्यादाएँ, लोकानुभव इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि यदि उनमें लोकतत्व की खोज की जाए तो 40% से भी अधिक तत्त्व 'लोकवार्ता' या 'लोक साहित्य' से गृहीत मिलेंगे। इसी प्रकार गेय मुक्तकों की पद–परम्परा पर विचार करते हुए विद्यापति से लेकर संत–कवियों की वाणियों और कृष्ण काव्य के पदों तक में 'लोक साहित्य' का प्रसार मिलेगा। वही स्वच्छन्दता, वही प्रसार, वही आह्लाद, वही सहजता, वही लोकमानस की अकृत्रिम अनुभूति, सब कुछ लोक साहित्य जैसा ही है। कवितावली में आकर तो तुलसीदास जैसा शास्त्रनिष्ठ परिनिष्ठित कवि भी 'लोक साहित्य' के प्रभाव को सहज रूप से स्वीकार करता प्रतीत होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में पुष्पा मैत्रेयी के उपन्यासों में लोक तत्त्व का विस्तार स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हिन्दी कविता पुनः गीतों की ओर मुड़कर लोक तत्त्व पर आश्रित होने जा रही है। मध्यकाल की तरह आज फिर हिन्दी साहित्य लोकोन्मुख होकर अपनी प्राणवत्ता खोज रहा है। हाशिए पर छूट गए पिछड़े मानव समाजों को मुख्य धारा में लाने का प्रयत्न हो रहा है। वनवासी, किसान, मजदूर, दलित और नारी–विमर्श के नए प्रयास सामने आ रहे हैं जो प्रकारान्तर से हिन्दी साहित्य के 'लोक' की ओर मुड़ने का संकेत दे रहे हैं। तथाकथित सभ्य और परिनिष्ठित समाज की लोक–संस्कृति, लोक–कलाओं और लोक–साहित्य में रूचि बढ़ रही है। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इस प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य लोक साहित्य का ऋणी है।

6.7 लोक-साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न और शिष्ट साहित्य के प्रतिमान

लोक–साहित्य, मानव मन की सहज हर्ष–शोकमयी, राग–द्वेषमयी संवेदनाओं का सहज प्रकटीकरण है परन्तु ऐसा होने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अभिव्यंजना का सौष्ठव नहीं होता अथवा काव्यशास्त्र के सौन्दर्य प्रतिमान उस पर लागू ही नहीं किए जा सकते या वह उन पर कदापि खरा नहीं उतरेगा। 'लोक साहित्य' के सरस गीतों पर झूम उठने वाले असंख्य श्रोता इस बात के साक्षी हैं कि लोक गीत रसात्मकता की कसौटी पर खरे उतरते आए हैं। असंख्य लोगों के कंठहार बनने वाले ये गीत निश्चय ही अत्यधिक सरस रहे होंगे जो सदियों की यात्रा तय करके, असंख्य उतार–चढ़ावों को पार करके हम तक पहुंचे। वीर, शृंगार और करुण रस ही नहीं, भक्ति और अद्‌भुत रस की उत्ताल तरंगे भी इस लोकमानस के अतल समुद्र में उठती रही हैं। विभावादि के आधार पर लघु प्रबन्ध गीतों में, लोक गाथाओं में रस–गंगा बहती देखी जा सकती है। भावोद्रिक्त स्थिति का तो अलौकिक चित्र 'लोक साहित्य' में ही देखने को मिलता है। शास्त्रीय अवयवों के अभाव में भी 'लोक साहित्य' में रस व्यंग्य रहता है। जिस ध्वन्यात्मकता पर 'शिष्ट साहित्य' को अभिमान रहा है उसी ध्वनि की अनेकानेक छवियां 'लोक साहित्य' में अनायास ही

बिखरी मिल सकती हैं, ध्वन्यात्मकता का जैसा सहज निर्वाह् 'लोक साहित्य' में रहता है वैसा 'शिष्ट साहित्य' में नहीं। 'लोक साहित्य' अनलंकृत होता है परन्तु भदेस या कुरुप नहीं। सौन्दर्य स्वर्णाभूषणों का मोहताज नहीं होता। 'लोक काव्य' सहज ही अलंकृत होता है तथा गेयता और संगीतात्मकता से जुड़कर उसमें भाषागत मृदुता स्वयंमेव आ जाती है। 'शिष्ट साहित्य' में मर्यादित आचरण का बोझ केवल सुन्दर अप्रस्तुतों को ही काव्य का विषय बनाता है जबकि 'लोक' में सुन्दर-भदेस, श्लील-अश्लील, आकर्षक एवं कुरूप एक साथ सहज ही चित्रित होते हैं। इस दृष्टि से 'शिष्ट साहित्य' अधूरी और एक पक्षीय सौन्दर्य-चेतना को अभिव्यक्त करता है। 'लोक साहित्य' अधिक व्यापक है। 'लोक साहित्य में चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति अकल्पनीय, काल्पनिक चरित्रों, कथाओं एवं प्रसंगों का सृजन करती आई है। 'शिष्ट साहित्य' में भी ऐसे चमत्कारपूर्ण वर्णन कम ही मिलते हैं। रीतिकालीन कवियों ने जिन चमत्कारपूर्ण प्रयोगों से ख्याति पाई वे 'लोक साहित्य' में सहज ही विद्यमान रहे हैं। रचा गया 'लोक साहित्य' निश्चय ही चमत्कारपूर्ण है। वास्तव में विभिन्न जनपदों के लोककवि अपने को श्रेष्ठतम सिद्ध करने के लिए चमत्कारी साहित्य का सृजन करते आए हैं। लोककवियों में भी काव्य एवं पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रतियोगिता रहती ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत रचितवर्ग का साहित्य 'शिष्ट-साहित्य' से आलोचना के प्रतिमानों की कसौटी पर भी श्रेष्ठ ठहरता है। यद्यपि लोक साहित्यकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि उसे काव्य शास्त्रीय और सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान हो परन्तु सहज सौन्दर्य वृत्ति उसे नए-नए प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है। शास्त्र, सदा ही लोक का अनुगामी रहा है, लोक जिस रास्ते पर चलता है शास्त्र अन्ततः उसे ही उचित मार्ग कहने के लिए विवश हो जाता है।

6.8 लोक साहित्य का क्षेत्र

'लोक साहित्य' का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। 'आभिजात्य साहित्य' तो लिपिबद्ध ही होता है, और अब तक वही आदर की वस्तु माना जाता था। यह समस्त साहित्य भी विशाल विश्व और उसकी परम्परा को देखते हुए बहुत थोड़ा है और इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है।

6.9 लोकाभिव्यक्ति के विभिन्न रूप

'लोक साहित्य' में लोकाभिव्यक्ति होती है। इस लोकाभिव्यक्ति के तीन रूप हैं- पहली, 'शरीर पोषिणी' अर्थात ऐसी अभिव्यक्ति जो मूलभूत आवश्कताओं की पूर्ति से जुड़ी हो। दूसरी 'मनस्तोषिणी' अर्थात ऐसी अभिव्यक्ति जो कि मानव मन की आश्चर्य और भय की प्रवृत्तियों को पोषित करती है। तीसरी अभिव्यक्ति 'मनोमोदिनी' भी होती है। यह वह अभिव्यक्ति है जिसका

मनुष्य की 'मोद' या 'आनन्द' वृत्ति से सम्बन्ध है। मानव की तीन ही प्रधान वृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं-पोषिणी, तोषणी और मोदिनी। इन तीन वृत्तियों से जुड़ा 'लोक साहित्य' मात्रा में बहुत अधिक है। आज का मानव समाज केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही भूत से सुसम्बद्ध नहीं, उसका आज का विश्वरूप भी भूत को वर्तमान किए है। अतीत, व्यतीत होकर समाप्त नहीं हो जाता बल्कि वर्तमान के रूप में उसका रूपान्तरण होता जाता है। मनुष्य का इतिहास उसके स्थापत्य तथा शिल्प-तत्वों में ही निहित नहीं, जंगली मानवों से शिष्ट मानवों तक में विद्यमान मौखिक अभिव्यक्तियों की परम्पराओं में भी है। जहां इस परम्परा के प्रवाह को छोड़कर पूर्ण अहंचैतन्य से युक्त होकर कोई साहित्य निर्मित किया जाता है, वही 'लोक-साहित्य' भिन्न कोटि का होता है। इस प्रकार 'लोक-साहित्य' का क्षेत्र बहुत विशद है। अत्यन्त आदिम जंगली अभिव्यक्तियों से लेकर 'शिष्ट साहित्य' की सीमा तक पहुँचने वाली समस्त अभिव्यक्ति 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत है।

6.10 लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य का अन्तर अहं चैतन्य के स्तर से जुड़ा है

निर्माता में अहंचैतन्य का उदय एकाएक ही नहीं होता। समाज के विकास के साथ ही व्यक्ति के अहम् का भी विस्तार होता है। जंगली अवस्था में अहंचैतन्य नितान्त शून्य होता है। अत्यधिक सभ्य समाज में यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। अहं का पहला आधार जीविकोपार्जन के उपायों से जुड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ऐसा वर्ग जो किसी विशिष्ट साधन से जीविकोपार्जन करता है, एक विशिष्ट अहंचैतन्य का प्रतिनिधि बन जाता है। मोटे तौर पर 'अहंचैतन्य' की तीन अवस्थाएं ही होती हैं- जंगली, ग्रामीण तथा नागरिक। आज भी शिकार और जंगली उत्पाद पर जीने वाली अनेक वनवासी जातियां और कबीले हैं। पशुपालन और कृषि का सम्बन्ध गाँवों से है। शहर, मशीनी सभ्यता को प्रश्रय दे रहे हैं। अहंचैतन्य के निम्नतम स्तर पर वे वनवासी आते हैं जो जंगल की सीमा को स्पर्श करते हैं। वैयक्तिक अहम् की अपेक्षा सामूहिक चैतन्य ही इन्हें परिचालित करता है। लोकमानस की सही तस्वीर इन्हीं की अभिव्यक्तियों में मिलती है। इससे ऊपर अनपढ़, निरक्षर ग्रामीण आते हैं। इससे ऊपर वे ग्रामीण आते हैं जो नागरिक सीमा को स्पर्श करते हैं। अहंचैतन्य के विकास के अन्तिम सोपान पर शिक्षित, संस्कारित, समृद्ध और सभ्य नागरिक समाज आता है।

6.11 लोक साहित्य का महत्त्व

'लोक साहित्य' लिपिबद्ध हो अथवा मौखिक परम्परा से संवरण करता हुआ चला जा रहा हो, अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। लोक संस्कृति के जीवनदायी तत्त्वों को इसी साहित्य में देखा

जा सकता है। लोक संस्कृति का जैसा दिव्य तथा अकृत्रिम प्रतिबिम्ब इस साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका दर्शन अन्यत्र नहीं होता। 'लोक साहित्य' की निर्मल निर्झरणी में अवगाहन कर केवल शरीर ही पवित्र नहीं होता बल्कि आत्मा भी प्रसूत और पावन बन जाती है। इस में जिस समाज का चित्रण रहता है वह स्वस्थ, सदाचारी एवं धर्मभीरू है। इसमें जिस नीति की प्रतिष्ठा की गई है वह कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली है। जिस धर्म का वर्णन इसमें है वह संसार में शान्ति और प्रेम का आदेश देता है। जिस आर्थिक तन्त्र का वर्णन इसमें है वह शोषणपरक नहीं, सहयोग एवं सेवापरक है। किसी जाति को समझने और सुधारने में उसके 'लोकसाहित्य' का अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार-प्रसार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

'लोक साहित्य' पर काम करने वाले विद्वानों ने इसके महत्त्व को अनेक दृष्टियों से विवेचित किया है।

इतिहास : ऐतिहासिक दृष्टि से लोक साहित्य विस्मृत इतिहास के अनेक धूमिल पृष्ठों पर प्रकाश डालने में समर्थ है। इतिहास के अनेक अज्ञात योद्धा आज भी लोकगीतों और लोकगाथाओं में विद्यमान हैं। अनेक ऐतिहासिक स्थल जो विस्मृति के गर्भ में समा चुके हैं और समय की धूल ने जिन्हें आँखों से ओझल कर दिया है वे भी आज लोक साहित्य में चमक रहे हैं। लोक साहित्य हमारे इतिहास का साक्षी और दर्पण है।

भूगोल : 'लोक साहित्य' का भौगोलिक और आर्थिक महत्त्व भी है। अतीत में हमारा समाज जिन दैवी आपदाओं से गुजरा है उनकी प्रतिध्वनि 'लोक साहित्य' में मिलेगी। देश की ऋतुओं, वनस्पतियों, नदी-पर्वतों, वनों और खेतों का चित्रण इस साहित्य में सहज ही हुआ है। 'लोक साहित्य' में हमारे समाज का आर्थिक स्वरूप झलकता है।

समाज शास्त्र : सामाजिक जन-जीवन के दर्पण के रूप में 'लोक साहित्य' का महत्त्व अत्यधिक है। किसी समाज में होने वाले सामाजिक कार्यों, व्यवहारों, परम्पराओं, प्रचलित प्रथाओं, विश्वासों आदि का जीवन्त चित्र हमें लोक-साहित्य में प्राप्त हो जाता है।

आचार शास्त्र और लोक शिक्षण : 'लोक साहित्य' में लोक-शिक्षण के तत्त्वों की कमी नहीं होती। ग्रामीण जनता निरक्षर होते हुए भी ज्ञान शून्य नहीं है। जीवन की पाठशाला में स्वानुभव से जो प्रामाणिक ज्ञान लोक अर्जित करता है उसकी अभिव्यक्ति नीति कथनों, लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से निरन्तर होती चलती है। यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामों में मौखिक विश्वविद्यालय खुले हैं। कृषि, मौसम, पशु-पक्षियों के पालन-पोषण सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान के अनेक रहस्य 'लोक साहित्य' में भरे पड़े हैं। परस (चौपाल)

और पूझर (अलाव) इस ज्ञान वितरण के लिए बड़े उपयुक्त स्थान हैं। इन संस्थाओं में शिक्षा मिलती है। शिक्षार्थी को समयानुसार सब चीजें सीखने को मिलेंगी। कोर्स (पाठ्यक्रम) आयु के अनुसार चलता है। बचपन में बाल सुलभ और बुढ़ापे में वृद्ध–सुलभ। 'लोककथाएं' शिक्षण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है और बच्चा अबोधावस्था में ही मां की गोद में बैठकर इन्हें सुनना प्रारम्भ कर देता है। पशु–पक्षियों, परियों–दानवों से होती ये कथाएं साहसिक नायकों और इतिहास नायकों तक यात्रा करती चलती हैं। लौकिक–अलौकिक, वास्तविक–काल्पनिक, सब कुछ इनमें सिमट आता है।

लोकाचार की सहज शिक्षा 'लोक साहित्य' के माध्यम से ही प्राप्त होती है। पाप–पुण्य, उचित–अनुचित, खाद्य–अखाद्य, शिष्टाचार आदि की शिक्षा सहज मनोरंजन के साथ 'लोक साहित्य' में प्राप्त होती है। लोककथाओं और लोकगाथाओं में हमारा सम्पूर्ण आचारशास्त्र ध्वनित होता है।

भाषा विज्ञान : भाषा वैज्ञानिकों के लिए अनुसन्धान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोलचाल की भाषाएं होती हैं जिनकी पर्तें उघाड़ कर वह किसी देश के भाषिक इतिहास का सर्वेक्षण प्रस्तुत कर सकता है। 'लोक साहित्य' का संग्रह आने वाले समय में भाषा शास्त्रियों के लिए भाषा के विकास को समझने हेतु अमूल्य भण्डार का काम करेगा। भाषा समस्या जिस रूप में आज भारत में है उसका समाधान भी लोकभाषाओं के अध्ययन से ही मिलेगा।

संस्कृति : 'लोक साहित्य' के अध्ययन से किसी समाज के सांस्कृतिक अतीत एवं वर्तमान का खाका तैयार किया जा सकता है। किसी संस्कृति विशेष के उत्थान–पतन, उतार–चढ़ावों का जितना सफल अंकन 'लोक साहित्य' में रहता है, उतना अन्यत्र नहीं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में –''ब्रह्म के समान यदि भारतीय जीवन को चतुष्पाद माना जाये तो उसके एकपाद की प्रतिष्ठा वेद या शास्त्रीय चिन्तन में, और त्रिपाद की अभिव्यक्ति लोक क्रियाशील जीवन में पायी जाती है। अतएव भारतीय शास्त्र की व्याख्या का सर्वोत्तम क्षेत्र यहां लोकजीवन है। आज भी लोक के जीवन का वार्षिक सत्र अनेक मंगलात्मक विधानों और आचारों से सम्बद्ध है। लोक में भरे हुए पर्व और उल्लास, लोकनृत्य, लोकगीत, लोक–कथाएँ, वृतों का अवदान कहानियाँ, संवत्सर का रूप संवारने वाले अनेक व्रत, उपवास, देव यात्राएं और मेले आदि से भारतीय संस्कृति अपना अमिट स्पन्दन प्राप्त करती है।

6.12 सारांश

प्रस्तुत पाठ में हम ने शिष्ट और लोक साहित्य पर विचार करते हुए इनके विविध पक्षों का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। साहित्य क्या है? लोक क्या है? लोक साहित्य की परिभाषा

और स्वरूप क्या है? शिष्ट साहित्य किसे कहेंगे और उसकी कौन सी विशेषताएं हैं जिनसे वह लोक साहित्य से अलग पहचान बनाता है? 'लोक साहित्य' की विशेषताओं पर विस्तार से विचार करने के उपरान्त हमने उसकी महत्ता पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। 'शिष्ट साहित्य' और 'लोक साहित्य' की तुलना करते हुए हमने निष्कर्ष निकाला कि 'लोक साहित्य' अधिक व्यापक और प्राचीन है तथा 'शिष्ट साहित्य' से इसका सम्बन्ध जनक और जनित का है।

6.13 कठिन शब्द

1) अत्यधिक
2) शिष्ट
3) रागात्मकता
4) परिनिष्ठित
5) अव्यावहारिक
6) परम्परागत
7) कृत्रिम
8) मौलिक
9) पच्चीकारी
10) पोषण
11) तोषण
12) मोदन
13) निर्दिष्ट
14) प्रतिमान
15) प्रामाणिक

6.14 अभ्यासार्थ प्रश्न दीर्घ उत्तरापेक्षी

1) लोक साहित्य किसे कहेंगे? इस साहित्य का निर्माण कैसे होता है? लोकमानस और लोक संस्कृति की इसमें क्या भूमिका है?

----

2) शिष्ट साहित्य, लोक साहित्य से किन अर्थों में भिन्न होता है?

----

3) लोक साहित्य को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरापेक्षी

1) शिष्ट साहित्य किसे कहते हैं।

----

2) लोक साहित्य की अवधारणा पर प्रकाश डालें।

----

3) लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य में क्या अन्तर है।

----

4) हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में शिष्ट साहित्य पर लोक साहित्य की छाप पर विचार करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1) शिष्ट साहित्य किसे कहते हैं?

----

2) लोक साहित्य किस परम्परा से चलता आ रहा है?

----

3) लोक साहित्य......... की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है।

----

4) लोकाभिव्यक्ति के कौन से तीन रूप हैं।

6.15 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1) लोक साहित्य का अध्ययन - डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय

2) लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य-चन्द्रबली सिंह

3) लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग - डॉ. श्री राम शर्मा

4) लोक साहित्य और संस्कृति - डॉ. दिनेश्वर प्रसाद

लोक साहित्य और लोक संस्कृति का अंतरावलबंन

रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 लोक से अभिप्राय या लोक की परिभाषा

7.4 लोक संस्कृति अथवा लोकवार्ता का अर्थ एवं स्वरूप

7.5 फोकलोर और लोकवार्ता

7.6 भारत में लोक संस्कृति का संकलन

7.7 लोक साहित्य में लोक मानस

7.8 मानवीय मानस का स्वरूप

7.9 मनोविज्ञान और लोकमानस

7.10 लोक मानस के तत्व

7.11 लोक साहित्य : स्वरूप एवं तत्व

7.12 लोक साहित्य और लोक संस्कृति

7.13 लोक साहित्य की विशेषताएं एवं विविध रूप

7.14 लोक साहित्य का वर्गीकरण और विस्तार

7.15 लोक साहित्य और लोक संस्कृति का अन्तः सम्बन्ध

7.16 सारांश

7.17 कठिन शब्द

7.18 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.19 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

7.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत पाठ में हम 'लोक साहित्य' और लोक संस्कृति विस्तारपूर्वक विचार करते हुए दोनों

के अन्र्तसम्बन्धों का विश्लेषण करेंगे।

- प्रस्तुत आलेख के माध्यम से लोक संस्कृति और लोकवार्ता के अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
- लोक साहित्य और लोक संस्कृति को समझ सकेंगे।
- लोक मानस के तत्त्वों को जान पाएगें।
- लोक साहित्य की विशेषताओं को जान पाएगें।
- लोक साहित्य के वर्गीकरण और विस्तार को समझ सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

'साहित्य' और 'संस्कृति' शब्दों से पूर्व 'लोक' विशेषण लगा है इसलिए स्वाभाविक है कि हम सबसे पहले 'लोक' अर्थ को अच्छी तरह आत्मसात कर लें क्योंकि इस पाठ में हम केवल 'साहित्य' और 'संस्कृति' की बात नहीं कर रहे बल्कि 'लोक साहित्य' और 'लोक संस्कृति' की बात कर रहे हैं, जिसका स्वरूप परिनिष्ठित साहित्य और संस्कृति से निश्चय ही कई प्रकार से भिन्न है।

7.3 लोक से अभिप्राय या लोक की परिभाषा : 'लोक' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'देखने वाला'। इस अर्थ में 'लोक' शब्द को समस्त जनसमुदाय के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। यजुर्वेद में लोक (समाज) की एक कल्पना इस प्रकार की गई है :-

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।'

अर्थात वह पुरूष रूप ईश्वर है, उसके सहस्रों मुख, सहस्रों नेत्र, और सहस्रों पाद हैं। ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्त में 'लोक' शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान दोनों अर्थों में किया गया है, यथा –

'या इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवे।'
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मोदं भारतंजनम्॥ (ऋग्वेद 3/53/112)

अर्थात विश्वामित्र का यह ब्रह्म (मंत्र) भारत जन (समाज) की रक्षा करता है। जैमनीय उपनिषद ब्राह्मण में 'लोक' का अर्थ इस विश्व से है, यह 'लोक' अनेक प्रकार से प्रत्येक वस्तु में प्रभूत या व्याप्त है। इसे यत्न करने पर भी कौन पूरी तरह से जान सकता है।

उक्त प्राचीन संदर्भों में 'लोक' का अर्थ समस्त जन समुदाय और जनजीवन सहित समाज

लगाया गया है। 'लोक-साहित्य' या 'लोक वार्ता' की दृष्टि से यह शब्द अतिव्याप्ति का सूचक है क्योंकि लोकवार्तापूरक अध्ययन में 'लोक' का सीमित अर्थ लिया जाता है। संभवतः आर्यों से संघर्ष के कारण कुछ लौकिक आचरण वेद विरोधी करार दे दिए गए इसलिए लोक और वेद को विरोधी माना जाने लगा। 'लोक' का दूसरा अर्थ वेदेत्तर माना गया। दिव्य लोक और पार्थिव लोक भी स्वीकार किए गए।

पाणिनि ने वेद से पृथक् 'लोक' की सत्ता की चर्चा की है। वेद और लोक की भिन्नता के साथ-साथ 'लोक' की स्वतंत्र सत्ता भी उन्होंने स्वीकार की है। शीघ्र ही 'लोक' वेदेतर संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ गया और उसकी भावना वैदिक और लौकिक दोनों को छूने लगी।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। महाभारत में लोक' शब्द का प्रयोग साधारण जनता के अर्थ में हुआ है, यथा-

'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।'

अर्थात लोक को स्वयं देखने वाला व्यक्ति ही इस सम्यक् रूप से जान सकता है।

डॉ० वासुदेव अग्रवाल भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान थे, उनका कथन है-

''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी कुछ संचित है। .... अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री, सर्वभूत माता- पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। .... लोक, पृथ्वी, मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणमय रूप है।''

डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' शब्द का अर्थ-जनपद या ग्राम्य नहीं माना बल्कि ''नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता'' माना है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। इसकी दूसरी विशेषता इस लोक का सरल और अकृत्रिम जीनव है तथा तीसरी विशेषता है इसका श्रमजीवी होना। तथाकथित संभ्रान्त नागरिक जीवन के लिए सुख-साधन जुटाने वाला यह विशाल जनसमुदाय ही 'लोक' है।

ब्रिटेनिका विश्वकोश में 'लोक' शब्द का प्रयोग प्रमुखतः उन्हीं के लिए माना गया है जो 'नगर संस्कृति की धाराओं तथा विधिवत् शिक्षा से बाहर पड़ जाते हैं।' निरक्षर, कम पढ़े और गांव अथवा जनपदों में बसे लोग इस 'लोक' का निर्माण करते हैं।

अशोक के शिलालेखों में भी साधारण जनता को 'लोक' कहा गया है। डां कुंजबिहारी

दास 'सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहने वाली साधारण जनता को 'लोक' कहते हैं।'' महात्मा कबीर ने 'लोका तुम हो मति के भोरा, जो काशी तन तजे कबीरा रामहिं कौन निहोरा' कहकर 'लोक' का अर्थ सामान्य जनता ही लगाया है।

डॉ० वॉर्कर ने 'फोक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'फोक' से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है किन्तु यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाए तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं।

7.4 लोक संस्कृति अथवा लोकवार्ता का अर्थ एवं स्वरूप :

लोकवार्ता शब्द हिन्दी में अंग्रेजी शब्द 'फोकलोर' के पर्याय के रूप में प्रचलित हुआ। लोकवार्ता के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए किसी देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है तभी साहित्य तथा अन्य विषयों में इसके योगदान को समझा जा सकता है। लोकवार्ता के अध्ययन का क्षेत्र-गत दो शताब्दियों में विकसित होता गया है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के विगत पचास-साठ वर्षों में लोकवार्ता के अध्ययन का क्षेत्र रीति-रिवाजों की सीमाओं से आगे बढ़कर 'लोक साहित्य' की विधाओं पर केन्द्रित हुआ और फिर वह लोक संस्कृति के समग्र धरातल तक फैल गया। आज लोक-संस्कृति के पर्याय के रूप में भी लोकवार्ता शब्द का प्रयोग होता है।

7.5 फोकलोर और लोकवार्ता :

क्योंकि लोकवार्ता शब्द 'फोकलोर' का अनुवाद है इसलिए 'फोकलोर' का अर्थ एवं स्वरूप समझना आवश्यक है। एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार 'फोकलोर' का स्वरूप निम्न रूप में दिया गया है, ''इस शब्द को 1846 में डब्लयू. जे. थोमस ने सबसे पहले प्रयुक्त किया था और यह असंस्कृत समूहों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं और अन्धविश्वासों का सूचक था। परन्तु इस शब्द का अर्थ इसकी परिभाषा में नहीं बल्कि इसके प्रयोग में है। आज 'फोकलोर' का क्षेत्र उन क्षेत्रों में भी फैला है जिन्हें जानबूझकर इसके क्षेत्र से बाहर रखा गया था अर्थात् लोकप्रिय कलाएं और शिल्प तथा ग्रामीण लोगों की भौतिक एवं बौद्धिक संस्कृति।'' कहने का भाव यह है कि कालान्तर में यह शब्द असंस्कृत मानव समूहों के सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन का पर्याय बन गया। श्री जे. एल मिश के अनुसार, ''ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों, प्रथाओं और परम्पराओं का सम्पूर्ण योग, जो सभ्य समाज से अल्प शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है, फोकलोर है। इसकी परिधि में परियों की कहानियां, लोकानुभूतियां, पुराण गाथाएं, अन्ध विश्वास, उत्सव, रीतियां, परम्परागत खेल या मनोरंजन, लोकगीत, प्रचलित कहावतें, कला-कौशल, लोक-नृत्य और ऐसी सभी बातें सम्मिलित

की जा सकती हैं।'' एक अन्य विद्वान आर. आर. मैरिट 'फोकलोर' के विषय में कहते हैं, ''फोकलोर में लोगों की संस्कृति का समावेश माना जा सकता है, ऐसी संस्कृति जो कि व्यवस्थित धर्म और इतिहास का अंग नहीं रही बल्कि जो स्वयंमेव विकसित होती आई है।''

लोकसाहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान देवेन्द्र सत्यार्थी ने भले ही 'लोकवार्ता' की जगह 'लोकयान' शब्द को चलाना चाहा था परन्तु 'लोकवार्ता' को वे फोकलोर से बढ़िया शब्द मानते थे। उनके अनुसार, 'लोकवार्ता शब्द अंग्रेजी के फोकलोर से कहीं अधिक अर्थपूर्ण है। जनता जो कुछ युग-युग से कहती और सुनती आई है, अर्थात मौखिक परम्परा की समूची सामग्री 'लोकवार्ता' के अन्तर्गत आ जाती है।'' हिन्दी में 'लोकवार्ता' शब्द प्रचलित करने का श्रेय वासुदेव शरण अग्रवाल जी को जाता है। उनके शब्दों में 'लोकवार्ता' का अर्थ है, ''लोकवार्ता एक जीवित शास्त्र है। लोक का जितना जीवन है, उतना ही लोकवार्ता का विस्तार है लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति-इन तीनों क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोकवार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है।'' 'लोकवार्ता' शब्द के लिए भिन्न-भिन्न पर्यायों का प्रचलन हिन्दी भाषा में भी हुआ है। लोकयान, लोकायन, लोक-संस्कृति, जन-संस्कृति आदि शब्द गढ़े गए परन्तु 'लोकवार्ता' ही लोकप्रिय हुआ। मराठी में श्री. म. प. पोतदार ने 'फोकलोर' के लिए 'लोक विद्या' शब्द सुझाया एवं मराठी पारिभाषिक शब्दकोष में 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है। कालेलकर ने इसे 'लौकिक दन्तकथा' कहा। भोलानाथ तिवारी ने 'लोकशास्त्र', 'लोक विज्ञान', 'लोक परम्परा', 'लोक प्रतिभा', 'लोक पथ,' 'लोक विधान', 'लोक संग्रह', 'लोक प्रवाह' और 'लोक अध्ययन' जैसे नामों से पुकारना चाहा। सुनीति कुमार चटर्जी ने 'लोकायन' शब्द गढ़ा। इन सभी नामों में अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति का दोष है।

वास्तव में 'लोकवार्ता' में लोक कलाएं, लोकानुष्ठान, लोकमार्ग तथा लोक साहित्य आदि सभी समाविष्ट हैं। शास्त्र और विज्ञान वाचक नामकरण इसकी असंस्कृत प्रकृति के विपरीत पड़ते हैं। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय 'लोकायन' नामकरण पर आपत्ति करते हुए लिखते हैं, ''परम्परागत जीवन यात्रा की पद्धति जिन सामाजिक अनुष्ठानों, विश्वास, विचारों तथा साहित्य से अपने लौकिक प्रकाश को प्राप्त करती हैं उन्हें अंग्रेजी में 'फोकलोर' कहते हैं। इस शब्द का भारतीय प्रतिशब्द हमने 'लोकायन' यों बना लिया है। इन शब्दों में एक में धर्म बोधक और द्वितीय शब्द में लोक की गतिबोधक पाक्षिक, अर्थवाचकता और अर्थ व्याप्ति है। ये शब्द 'फोकलोर' के विस्तृत व्यापक अर्थ को द्योतित करने में अपरिचित और नवीन होने पर अक्षम रहे। अतएव इनका प्रचलन भी

नहीं हो पाया।''

डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'फोकलोर' के लिए 'लोक-संस्कृति' ग्रहण करने का सुझाव दिया। डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय भी इसी शब्द को उपयुक्त मानते हैं। 'फोकलोर' और 'फोक कल्चर' दोनों की सीमाएं एक दूसरे को छूती प्रतीत होती हैं और 'लोकवार्ता' शब्द में अधिक से अधिक 'लोककथा' या 'लोकचर्चा' का भाव रहता है। कृष्णदेव उपाध्याय भी इसीलिए 'लोक संस्कृति' शब्द को अधिक समीचीन स्वीकार करते हैं। संस्कृत शब्द कोशों में 'लोकवार्ता' का अर्थ अफवाह या किंवदन्ती दिया गया है। वार्ता शब्द का संस्कृत वाङ्मय में कहीं भी 'ज्ञान' या 'लोर' के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिए 'फोकलोर' के लिए 'लोक संस्कृति' शब्द का प्रयोग भी पर्याप्त प्रचलित है और इस पाठ में हम इसी रूप में इसका प्रयोग कर रहे हैं।

डॉ० भोलानाथ तिवारी 'लोकवार्ता' शब्द में 'लोकप्रथा' का ही भाव वहन करने की क्षमता के विषय में अपना मत व्यक्त करते हैं। डिंगल में भी बारता या वार्ता का प्रयोग कथा के अर्थ में ही होता है। अतः वार्ता के प्रयोग में सन्दर्भ के अनुसार वार्ता में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा नूतन समाचार अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, लोकचर्चा, लोकगाथा और कथादि के अर्थों को व्यक्त करने की पारम्परिक क्षमता है। डॉ उपाध्याय के मत में संस्कृत शब्दकोशों में वार्ता का प्रयोग लोक अथवा ज्ञान नहीं है। तो 'लोर' शब्द का पर्याय 'कल्चर' अथवा 'संस्कृति' भी नहीं है। अतः 'फोकलोर' से ग्रहण किये गये इस अर्थ में 'संस्कृति' अर्थ भी उपयुक्त नहीं है। 'संस्कृति' शब्द पूर्व प्रचलित मर्यादाओं तथा रूढ़ार्थ सहित प्रतिष्ठापित शब्द है। 'लोकवार्ता' वर्तमान में 'फोकलोर' का पर्याय गृहीत शब्द है। 'लोकवार्ता' का अर्थ केवल 'लोक संस्कृति' मात्र नहीं है।

श्रीमती सोफिया बर्न के अनुसार लोकवार्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न तीन बातें सम्मिलित की गई हैं –

1. लोक साहित्य।
2. लोक जीवन के रीति-रिवाज।
3. लोक जीवन में प्रचलित विश्वास।

सोफिया बर्न के अनुसार, ''यह एक जातिबोधक शब्द की भांति प्रतिष्ठित हो गया है, जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों

में अविशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियां, गीत तथा कहावतें आती है।''

डॉ० श्याम परमार ने भी लोकवार्ता के विषय-क्षेत्र को निम्न शीर्षक के अन्तर्गत वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया है -

1. लोकगीत, लोककथाएं, कहावतें, पहेलियाँ आदि।
2. रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि।
3. जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास आदि।
4. लोकनृत्य, लोकनाट्य तथा आंकिक अभिव्यक्ति, तथा
5. बालक, बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण तथा आदिवासियों के खेल तथा गीत आदि।

डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय ने भी 'लोकवार्ता' के विषयों को निम्न रूप में सूचीबद्ध किया है-

1. यह परम्पराओं, विश्वासों, प्रथाओं आदि के अवशेषों का अध्ययन करती है।
2. यह एक निश्चित विज्ञान शास्त्र है, जिसके कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं, यद्यपि इसका कलापक्ष भी गौण नहीं है।
3. इसकी सामग्री मुख्यत: मौखिक या अलिखित होती है।
4. यह आदिम अभिव्यक्तियों का समूह होने के साथ, एक गतिशील शास्त्र भी है। प्राचीन रूढ़ियों के साथ इसमें जीवित अभिव्यक्तियों व उनकी प्रवाहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन होता है।
5. इसके अध्ययन की पद्धति तुलनात्मक है।
6. यह व्यापक रूप से मानव-संस्कृति और विशेष रूप से लोक संस्कृति के सभी पक्षों पर विचार करती है।

डॉ० सत्येन्द्र ने लोकवार्ता के अन्तर्गत अध्ययन के क्षेत्रों को विस्तारपूर्वक सूचीबद्ध किया है, उनके अनुसार -

''पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में

अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियां, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़-जगत के सम्बन्ध में भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उसके साथ मनुष्य के सम्बन्धों के विषयों में जादू-टोना, सम्मोहन, वशीकरण, ताबीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्योहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान आते हैं। तथा धर्म गाथाएं, अवदान (लीजैण्ड), लोक-कहानियां, साके (बैलेड़) गीत, किंवदन्तियां, पहेलियां तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं।''

7.6 भारत में लोक संस्कृति का संकलन

'लोक संस्कृति' में 'लोकवार्ता' एक महत्वपूर्ण अंग है। भारत में 'लोक संस्कृति' का संकलन दो प्रवृत्तियों के कारण हुआ। भारत में कार्यरत औपनिवेशिक अधिकारियों ने शासित को जानने-समझने के उद्देश्य से इसका संकलन किया। बीसवीं शताब्दी में कुछ राष्ट्रवादी कवियों ने अपनी संस्कृति को गौरव मण्डित करने के लिए 'लोक संस्कृति' से सहारा लेने हेतु संकलन किया। बाद में चलकर लोकसंस्कृतिविद् पं० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक संस्कृति' के संकलन एवं लोक परम्परा के अध्ययन का प्रयास किया। 'लोक संस्कृति' के देशी विद्वानों ने लोकप्रिय संस्कृति के संकलन का कार्य किया, विश्लेषण का नहीं। 'लोक संस्कृति' के प्रति इनकी रुचि रोमानी तथा बौद्धिकों की भावमयी राष्ट्रवादी बनकर रह गई। इनसे किसी बड़े ऐतिहासिक तथ्य तक पहुँचने का प्रयास नहीं किया गया। 'लोक संस्कृति' की विदेशी विद्वानों ने व्याख्या करते हुए इसमें क्रिश्चियन जीवन-मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया जबकि भारतीय विद्वानों ने तो इतना भी नहीं किया।

'लोक संस्कृति' पर काम करने वाले विद्वानों ने जो सामग्री इकट्ठी की वह आने वाले समय में समाज-वैज्ञानिकों के लिए अध्ययन की बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करती है। जब कि यह सार संकलन 'लोक-संस्कृति' के विशाल समुद्र का छोटा सा अंश मात्र है। लोक संस्कृतिवादियों की तरह यूरोप के इतिहासकारों ने भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक विकास में क्षय होने जा रहे 'आदमी' व 'जन', उसकी लोकप्रिय संस्कृति तथा परम्परा की खोज आरम्भ की। 'लोक संस्कृति' के माध्यम से जन इतिहास रचने की योजनाएं यूरोप में बननी प्रारम्भ हुईं।

'लोक संस्कृति' कोई वायवीय अवधारणा नहीं है। इसका एक सुगठित शरीर है। 'लोक संस्कृति' पर विचार करने के लिए उसके शरीर विज्ञान पर विचार करना होगा। 'लोक-संस्कृति' के शरीर शास्त्र में 'लोकवार्ता' का महत्वपूर्ण स्थान है।

रिचर्ड डॉरसन अपनी पुस्तक 'फॉक लोर एन्ड लाइफ' की भूमिका में लिखते हैं कि 'विश्लेषण की आवश्यकताएं लोकविदों को अन्त: अनुशासनिक बनाती हैं।' लोकवार्ताओं के साहित्यिक उपयोग के लिए **साहित्य** के व्यापक ज्ञान से जुड़ाव, लोकवार्ता एवं संस्कृति के सम्बन्धों के मूल्यांकन के लिए **नेतृत्व शास्त्र** से जुड़ाव, मौखिक परम्पराओं के ऐतिहासिक महत्व के लिए **इतिहास** के संज्ञान से जुड़ाव आवश्यक है। ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों यथा **भाषा-विज्ञान**, **भूगोल, संगीत शास्त्र, समाज शास्त्र** तथा **मनोविज्ञान,** 'लोक संस्कृति' के बौद्धिक अध्ययन की प्रक्रिया में आवश्यक माध्यम है। साहित्यिक, मानव-विज्ञानी और ऐतिहासिक विशेषज्ञता 'लोक संस्कृति' के अध्ययन के लिए प्राथमिक एवं मुख्य औजार हैं।

लोक संस्कृति का अध्ययन विभिन्न अनुशासनों के विकास में इसकी भूमिका को रेखांकित करने के लिए भी महत्वपूर्ण है। इतिहास के संदर्भ में, कई देशों का राष्ट्रीय इतिहास लोक-संस्कृति के उपयोग से विकसित किया गया है। अफ्रीका के इतिहास का बड़ा भाग उसकी लोक-संस्कृति के अध्ययन से विकसित हुआ है। इसीलिए उनके इतिहास में लोक अवधारणा है, आभिजात्य अवधारणा नहीं।

भारत की 'लोक संस्कृति' पर जो अध्ययन अभी तक हुए हैं उनमें से अधिकतर विदेशियों ने किए हैं। इनकी निम्न सीमाएं हैं –

1. भारतीय समाज के अन्त: तत्व की जानकारी न होने के कारण उसे समझने में भूल की।
2. भाषा, बिम्ब और मिथकों की व्याख्या में असंख्य गलत निष्कर्ष निकाले।
3. निम्न के प्रति श्रेष्ठतावादियों की दयादृष्टि, उनको समझने से अधिक जानने की जिज्ञासा ने उनकी नजरों में 'लोक संस्कृति' को सजावट और उपभोक्तावादी दृष्टि से देखा।

प्रो. 'नीहार रंजन रे' ने 'लोक संस्कृति' को समझने की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है ''बिना लोक व्यवहारों एवं लोक धर्म इत्यादि लोक संस्कृति के विविध आयामों में प्रवेश किए बिना जन इतिहास की रचना संभव नहीं।'' डॉ० 'कौशाम्बी' ने भी मिथकों के अध्ययन के माध्यम से प्राचीन भारत के सामाजिक और ऐतिहासिक परिदृश्य को समझने का प्रयास किया। वनवासी क्षेत्रों की लोक संस्कृति का अध्ययन उनके इतिहास लेखन का आधार बन सकता है क्योंकि उनके पास लिखित इतिहास नहीं है। नेतृत्व शास्त्र और मानव विज्ञान के अनुशासनों में भी 'लोक संस्कृति'

से डाटा निकाल कर, उनका विश्लेषण कर अपनी परिकल्पनाओं को रूप देने की दिशा में कार्य हो रहा है।

7.7लोक साहित्य में लोक मानस :

'लोकवार्ता' के अन्तर्गत वह समस्त अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानव के अवशेष आज भी दिखाई पड़ते हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि विश्व की प्रत्येक जाति ने प्रारम्भ आदिम बर्बर अवस्था में किया। सभ्य मनुष्य के आचरण में बर्बर युग के चिन्ह वैसे ही झलकते हैं। जैसे 'शिष्ट साहित्य' में आदिम-लोक के अवशेष। वस्तुत: 'लोकवार्ता' में इन अवशेषों के अध्ययन का अर्थ है कि उस आदिम लोक प्रवृत्ति को समझा जाये जिसके अनुसार 'लोकवार्ता' प्रस्तुत होती है, यह लोक प्रवृत्ति जब-जब, जहां-जहां जिस मात्रा में विद्यमान मिलेगी, वहां तब उसी परिमाण में 'लोकवार्ता' भी मिलेगी। लोकमानस को समझना 'लोक साहित्य' और 'लोक संस्कृति' को समझने के लिए आवश्यक है।

7.8 मानवीय मानस का स्वरूप :

डॉ० सत्येन्द्र ने समस्त मानव समुदाय के मानसिक स्वरूप को तीन भागों में बांटा है- प्रथम लोक मानस, द्वितीय जन मानस और तृतीय मुनि मानस। लोकमानस वह मानसिक स्थिति है जो आज आदिम मानव की परम्परा में हैं, उसी का अवशेष है। आज के सभ्य समाज के मानसिक स्वरूप में वह सबसे नीचे है। जनमानस बीच की स्थिति है साधारण व्यवसायात्मक बुद्धि का प्रतीक है जो केवल व्यवहार में परिणत होती है और उसी में विलीन हो जाती है, इसकी कोई मूर्त अभिव्यक्ति नहीं होती। मुनी मानस में दर्शन शास्त्र, विज्ञान और उच्च कलाओं में अभिव्यक्ति पाता है। इस प्रकार 'लोकवार्ता' के निर्माण में लोकमानस की भूमिका प्रमुख रहती है तो शिष्ट साहित्य और समाज मुनि मानस को प्रतिबिम्बित करता है।

7.9 मनोविज्ञान और लोकमानस :

डॉ० सत्येन्द्र ने 'साहित्य-विज्ञान' पुस्तक के द्वितीय अध्याय में लोकमानस के स्वरूप को विस्तारपूर्वक उद्‌घाटित किया है। मनोविश्लेषणवादियों में फ्रायड़, एडलर, युंग तथा इनके शिष्यों ने मानव मन का विश्लेषण करते हुए मन को चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन के तीन हिस्सों में बांट दिया। फ्रायड़ के अनुसार यह अवचेतन मन ही आदिम युग से मनुष्य में विद्यमान दमित वासनाओं का अतल समुद्र है। अवचेतन पर युंग का कहना है कि यह व्यक्तिगत भी होता है और सामूहिक भी। अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ दी साइकी' में उन्होंने बताया कि व्यक्तिगत अचेतन

में वे तत्व विद्यमान रहते हैं जो समाज के देशकाल में अपनी तीव्रता खो देने के कारण अब अचेतन हो गए है। इस अचेतन में दमित भाव और अनुभूतियां रहती हैं जो चेतन तक पहुँचने का निरन्तर प्रयास करती है।

अचेतन का दूसरा भाग सामूहिक अचेतन है जिसके उपादान व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होते हैं। ये उपादान मनुष्य अपने जीवनकाल में अर्जित नहीं करता बल्कि ये उसे दाय के रूप में सम्पूर्ण मानव जाति से प्राप्त होते हैं। इसमें आदि मानव के बिंब झांकते रहते हैं और मनुष्य के जीवन को परिचालित करते हैं। भूत-प्रेतों के अस्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए युंग मिथकीय अभिप्रायों, अनुष्ठानों, अवदानों तथा परिकथाओं आदि को इसी सामूहिक अचेतन की उपज बताते हैं। उन्होंने सिद्ध किया कि अचेतन का यह अंश जिन तत्वों से मिलकर बनता है वे मानव मात्र की सम्पत्ति है। संस्कार रूप में ये तत्व मनुष्य को उत्तराधिकार में मिलते हैं। उदाहरण के लिए मातृशक्ति का आद्यरूप, जन्मदात्री मां, दादी, सौतेली मां, सास आदि किसी भी रूप में प्रकट हो सकता है। इस प्रकार के विचारों की व्याख्या किसी एक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों के द्वारा नहीं की जा सकती है, उनकी व्याख्या केवल मानव मन के इतिहास द्वारा ही संभव है।

मानव के चेतन मन का सम्बन्ध विशिष्ट, अभिजात्य, उच्चवर्गीय सांस्कृतिक प्रवाह से रहता है तो अचेतन मन का सम्बन्ध लोक संस्कृति के धरातल से जुड़ा है। मानव मानस में तथाकथित चेतन और अचेतन स्तरों के बीच विभिन्न मनोवृत्तियों की जो तरंगे उठती हैं अथवा विचारों की जो अनेक धाराएं प्रवाहित होती हैं वे उर्ध्वमुखी तथा अधोमुखी दोनों प्रकार की होती हैं। अचेतन से चेतन की ओर प्रवाहित भाव या विचार लोक संस्कृति का मेल शिष्ट संस्कृति से करवाते हैं और इसके विपरीत चेतन से अवचेतन की दिशा में यात्रा से शिष्ट संस्कृति के तत्व लोकवार्ता में, लोक संस्कृति में प्रवेश करते रहते हैं। ज्यों-ज्यों समाज सभ्य होता जाता है, चेतन मन उसे अधिकाधिक शासित करने लगता है। संस्कृति का स्वरूप विशिष्ट होकर लोक संस्कृति से दूर होता जाता है।

सामाजिक और मानसिक धरातल पर शिष्ट और लोक, चेतन और अचेतन का आदान-प्रदान सांस्कृतिक धरातल पर निरन्तर चलता है। रेडक्लिफ ने अपनी दो पुस्तकों 'पीजेंट सोसायटी एण्ड कल्चर' एवं 'दि लिटिल कम्युनिटी' में जिन दो महान परम्पराओं के घात प्रतिघात से उत्पन्न सांस्कृतिक विकास की चर्चा की है उसके आधार पर हमें सांस्कृतिक प्रवाह को समाजशास्त्रीय आधार पर समझने में सहायता मिलती है।

रेडक्लिफ के अनुसार, सभ्यता की महान परम्परा (Great Tradition) तथा लघु परम्परा (Little Tradition) के अंत: संघर्ष से संस्कृति का निर्माण होता है। महान परम्परा थोड़े से सभ्रान्त लोगों द्वारा निर्मित होती है तथा लघु परम्परा अधिकांश लोगों की होती है। महान परम्परा का पोषण विद्यालयों, मठों या मंदिरों द्वारा होता है तथा लघु परम्परा अनपढ़ लोगों के बीच स्वत: विकसित होती रहती है। महान परम्परा में सुधार, परिष्कार पर बल रहता है जबकि लघु परम्परा अपने प्राकृत रूप को ही बनाए रखना चाहती है। दोनों धाराओं में आदान-प्रदान निरन्तर चलता आया है। आदिम जातियों के कथातत्वों को लेकर साहित्यकारों ने बड़े-बड़े महाकाव्यों का सृजन किया और वे महाकाव्य इतिहास के दीर्घ-प्रवाह में पुन: लोक समाजों की ओर लौटकर उनके स्थानीय जन-जीवन का अंग बन गए।

7.10 लोकमानस के तत्व

लोकमानस को फ्रेजर ने 'प्रिलॉजिकल' अर्थात विवेकपूर्वी माना क्योंकि उसका मानना था कि आदिमानव कार्य-कारण में सामंजस्य नहीं बिठा पाता था और उसकी व्याख्याओं में विरोधी तत्वों का समीकरण होता था। 'विफोर फिलासफी' नामक पुस्तक में यह स्पष्ट किया गया है कि आदि- मानव कार्य-कारण को स्थापित करने की आवश्यकता को मानता था और किसी क्रम को ही वह कार्य कारण मान लेता था।

फ्रेजर ने लोकमानस की दूसरी विशेषता मिस्टिक अथवा रहस्यशील होना बतलाया है। आदिमानव अपने अनुभवों की व्याख्या के लिए पराप्राकृतिक शक्तियों का आश्रय लेता था।

आदिमानव जीवित और मृतक में कोई विशेष भेद नहीं कर सकते थे, स्वप्न में अथवा जागृत में मर जाने वाले सजीव मानस चित्रों के आवर्तन से उसे मृतक भी जीवित की भांति सत्तावान ज्ञात होते थे।

आदिमानव अंश और समग्र में भेद नहीं कर पाते थे शरीर का एक अंग भी, सिर के बाल ही क्यों न हों, सम्पूर्ण शरीर की तरह ग्रहण किया जाता था। अनेक लोककथाओं में ऐसे कथाभिप्राय मिल जाएंगे जहां व्यक्ति का बाल तपाने मात्र से उसे बुलाया जा सकता था।

वह भावांश (Concept) को भी मूर्त स्वरूप वाला मानकर उसका आदान-प्रदान करता था। लोकमानस में प्राण मूर्त वस्तु थी जिसे लिया या दिया जा सकता था अथवा बांटा जा सकता था। सत्यवान और सावित्री की कथा में यमराज सत्यवान के प्राण ले जाता है और सावित्री के आग्रह पर पुन: लौटा देता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि आदिमानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति में निम्नलिखित तत्व थे–

1. समस्त सृष्टि मनुष्य के ही तुल्य है।

2. प्रत्येक व्यापार, गुण आदि उसके लिए मूर्त अथवा पदार्थवत सत्ता रखता है, मृत्यु, जीवन, प्राण आदि उसके लिए पदार्थ रूप ही हैं।

3. तुल्य और तुलनीय, अंश और अंशी, चिन्ह–प्रतीक और प्रदाता अथवा लक्ष्य में अभेद होता है।

4. देशकाल के भेद में होने वाली आवृत्ति में भी मूल रहता है।

5. प्रत्येक व्यापार अथवा तत्व 'इच्छा' से संयुक्त रहता है।

6. व्यापारों में कार्य–कारण परम्परा होती है। कोई भी कारण निकटता, सम्बद्धता, पूर्वकालिकता के तत्व से युक्त होने पर कारण हो सकता है।

7. वह विविध प्राकृतिक तत्वों में संघर्ष भी लक्षित करता था। प्रकृति से वह सहयोग भाव से चलता था।

लोकमानस के ऊपर दिए गए तत्वों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है –

1. **प्रकल्पना :**– लोकमानस में यथार्थ और कल्पना में अन्तर करने की असमर्थता होती है।

2. **आत्मशीलता :**– प्राणी–अप्राणी, जड़–चेतन को समान रूप से आत्मा से युक्त स्वीकार करना।

3. **जादू टोना :**– यह विश्वास होना कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है।

4. **अनुष्ठानिक विचारणा :**– यह विश्वास होना कि निश्चित विधि–विधान से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट प्राप्त होगा।

इन मानसिक तत्वों के फलस्वरूप लोकमानस सत्य और स्वप्न में अभेद करता है, व्यक्ति स्वप्न में शरीर छोड़कर घूमता है। शरीर और छाया में अभेद मान लेता है। मृतक व्यक्ति को सोया मानना और उसकी भटकती आत्मा पुनः आ सकती है यह विश्वास करना भी इसका अंग बन जाता है। भूत–प्रेतों में विश्वास, जड़ पदार्थों का मानवीय व्यवहार करना, क्रम–संयोग को कार्य–कारण मान लेना, तुल्य से तुल्य को प्रभावित करना जैसे पुतले की गर्दन काटने से शत्रु की गर्दन

कटेगी ऐसा मानना। अंश से अंशी को प्रभावित करना, किसी के बाल काटकर उसकी मृत्यु का विधान करना और जादू-टोने करने वालों को मान्यता देना भी लोकमानस का अंग है। मन्त्र, जाप, यज्ञादि से पुत्रादि का जन्म होना भी लोकमानस का अंग है।

तथाकथित सभ्य एवं सुशिक्षित संभ्रान्त वर्ग का मानस भी लोकमानस की इन विशेषताओं से बिल्कुल अछूता नहीं रहता। सभ्य मानस के क्षेत्र में प्राचीन पाखंड़ छिपे पड़े हैं। एक क्षण के लिए भी किंचित विवेक चेतन (रेशनल)का प्रयत्न शिथिल होते ही मानस क्षेत्र में ये सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं।

7.11 लोक साहित्य : स्वरूप एवं तत्व :-

लोकमानस की अभिव्यक्ति लोकावार्ता और लोकसाहित्य में होती है। लोकसाहित्य, लोकवार्ता का अभिन्न अंग है और अंग होने के कारण लोक की लोकमानसयुक्त अभिव्यक्ति का उद्घाटन है।

पिछले पाठ में हम ने लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार किया था। यहां संक्षेप में यही कह सकते हैं कि 'लोक साहित्य' में लोकप्रवृत्ति तथा लोकमान्य का ही विस्तार होता है। 'लोक साहित्य' लोकरंजक है जो सर्वसाधारण समाज की मौलिक रूप में भावमय अभिव्यक्ति करता है। सृष्टि के विकास के साथ ही 'लोक साहित्य' का उद्भव माना गया है। इसमें किसी का व्यक्तित्व नहीं झलकता बल्कि समाज की आत्मा मुखरित होती है। 'लोक साहित्य' में शिष्ट साहित्य का तत्व भी विद्यमान रहता है क्योंकि लोक साहित्यकार भी अपनी रचना को संप्रेषित करने के लिए कुछ उपाय करता ही है। आदिकालीन और सार्वभौम अभिव्यक्ति होने के कारण लोक साहित्य, शिष्ट-साहित्य का जनक है। लोकवार्ता तत्व की अविद्यमानता से शिष्ट साहित्य के उपार्जित अवचेतन मानस की कोटि का विकास हो पाया है। 'लोक साहित्य' में उपार्जित अवचेतन उपस्थित नहीं होता। लोकसाहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं परन्तु लोक साहित्य जन के अधिक निकट रहता है।

'लोकसाहित्य' का विस्तार आदि मानव से सभ्य मानव तक है और जन्म से मृत्यु तक मानव के सम्पूर्ण जीवन से इसका सम्बन्ध रहता है।

7.12 लोक साहित्य और लोक संस्कृति :

डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय ने लोक संस्कृति से इसकी तुलना करते हुए लोक संस्कृति को वृक्ष के समान और लोक साहित्य को उसकी शाखा के तुल्य माना है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने

लोक संस्कृति को समुद्र और लोक साहित्य को उसमें गिरने वाली बूंद बतलाया है। वास्तव में लोकमानस की मनोस्थिति के भीतर लोक संस्कृति का प्रतिपादन और उद्‌घाटन लोक साहित्य ही करता है। साहित्य क्षेत्र की लोकवार्तामयी अभिव्यक्ति का स्रोत लोक साहित्य ही होता है। जो लोकप्रवृत्ति वाङ्मय क्षेत्र की नहीं है वे सब उपकरण अथवा विधायें लोकवार्ता अथवा लोक संस्कृति के क्षेत्र में ही आयेंगी, किन्तु अपने क्षेत्र (लोक साहित्य) की लोकसंस्कृति अथवा लोकवार्ता का पूर्णभान इस लोकवार्ता विधा द्वारा ही सम्भव है।

7.13 लोक साहित्य की विशेषताएं एवं विविध रूप

लोक साहित्य की विशेषताओं एवं स्वरूप पर हम पिछले पाठों में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। इस पाठ में हम लोक साहित्य की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए उसके विविध रूपों पर संक्षेप में विचार करेंगे। लोक-साहित्य की विशेषताएं निम्न हैं –

1. यह आम तौर पर लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है, मौखिक रूप में संवरण करता है।
2. इसकी शैली अनलंकृत होती है अर्थात् भाषा, छन्द, अलंकार, बिम्ब प्रतीक आदि इसमें सहज हो सकते हैं सायास लाए नहीं जाते।
3. इसका रचयिता प्राय अज्ञात होता है। लिपिबद्ध लोक-साहित्य का रचयिता कई बार ज्ञात भी हो सकता है।
4. लोक साहित्य, प्रचार और उपदेश की प्रवृत्ति से दूर रहता है।
5. सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रति इसमें सहिष्णुता रहती है।
6. इसमें लोकमानस और लोक संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है।
7. इसका क्षेत्र विस्तृत होता है। मानव जीनव की अनुभूतियों, मान्यताओं, परम्पराओं, लोक-विश्वासों को लोक साहित्य की परिधि में समेटा जाता है।
8. लोकसाहित्य पुराना और सार्वभौम होने के कारण शिष्ट साहित्य का जनक है।

लोक साहित्य के उत्स, कथ्य एवं शिल्प विषयक अनेक विशेषताएं गिनाई जा सकती हैं। शिष्ट साहित्य से लोक-साहित्य का पार्थक्य दिखाते हुए हमने प्रथम पाठ में लोक साहित्य की विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

7.14 लोक साहित्य का वर्गीकरण और विस्तार

''लोक में व्याप्त प्राणियों के जीवन का मुखरित व्यापार लोक साहित्य है जिसमें क्षण-क्षण की अनुभूतियाँ, मनोवेग, हृदयोद्गार तथा क्रिया-व्यापार सजीव साकार होते हैं। विश्व के विशाल प्रांगण में जो सहज और सामान्य सत्यरूप है, लोक साहित्य उनकी विवृत्ति करता है।'' लोक साहित्य मानवता के सम्पूर्ण इतिहास को समेट कर चलता है और लोक कहे जाने वाले अधिकांश मानव समाज का दर्पण प्रस्तुत करता है। विभाजन की सुविधा के लिए हम इसे पांच भागों में बाँट सकते हैं-

1. लोकगीत 2. लोकगाथा 3. लोककथा 4. लोकनाट्य 5. विविध

7.14.1 लोकगीत :- लोकभाषा का आश्रय लेकर स्वर और लय के संगीतात्मक आवरण में जब मानव मन की आदिम वृत्तियां सहज ही प्रस्फुटित एवं अभिव्यक्त होती हैं तो लोकगीतों का जन्म होता है। सामान्य जन समुदाय के हार्दिक रागाराग से पूर्ण भावानुभूतियां, लोकगीत कहलाती हैं। जगत की विभिन्न चेष्टाओं एवं स्थितियों का प्रभावपूर्ण चित्र इन गीतों में निबद्ध रहता है।

7.14.2. लोकगाथा :- सांगीतिक आवरण में आबद्ध दीर्घ कथा-वस्तु की अभिव्यक्ति लोकगाथा कहलाती है। लोकगीतों में गेय तत्व प्रधान होता है तथा वहां पर कथा तत्व अति सूक्ष्म अथवा नहीं होता। कथानकों में विस्तार लोकगाथाओं में ही होता है और ये धर्म, रोमांस, रोमांच अथवा वीरता से युक्त हो सकती हैं। लोकगाथाओं के नामकरण भी विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुए हैं। महाराष्ट्र में इन्हें 'पवाड़ा' कहते हैं, गुजरात में ऐसे दीर्घ कथानक युक्त गीतों को 'कथागीत' कहते हैं, राजस्थानी लोक साहित्यकारों ने इन्हें 'गीत कथा' का नाम दिया है उत्तरी भारत में गाथा के मुख्य पात्र के नाम पर भी गाथाएं चली है यथा कुंवर सिंह, गोपीचन्द्र, लौरिकी, विजयमल, आल्हा इत्यादि। नाम लेने पर इनसे सम्बन्धित गीतों का आशय प्रकट हो जाता है। ग्रियर्सन ने इस प्रकार के गीतों को 'पापुलर सांग' कहा है। अंग्रेजी में इन कथात्मक गीतों को 'बैलेड' या 'इपिक ले' कहा जाता है। पिछले पाठों में लोकगाथा पर विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है।

7.14.3. लोककथा :- लोकभाषा के माध्यम से सामान्य लोक-जीवन में प्रचलित, विश्वास, आस्था और परम्परा पर आधारित कथाएं, 'लोक कथा' के अन्तर्गत आती हैं। शांति और अशांति के विभिन्न क्षणों में ये लोक कथायें जन-समुदाय में स्फूर्ति एवं प्रेरणा का रक्त संचार करती हैं। लोकमानस में परिव्याप्त होकर असीम आनन्द की लहरों में सुन्दर सत्य का उद्घाटन करती हैं। भारतीय 'लोक साहित्य' लोककथाओं की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। वेद, उपनिषदों से लेकर ''पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' तक असंख्य लोककथाएं संस्कृत साहित्य से आई हैं। बौद्ध, जैन, ग्रन्थों में इनका भण्डार है। जनपदीय, प्रादेशिक भाषाओं में अनेक स्रोतों से लोककथाएं आई हैं।

लोककथाओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से हुआ है आनन्दवर्धन ने परिकथा, सकल कथा और खण्ड कथा नाम के तीन भेद बताए हैं। इसी प्रकार डॉ० दिनेशचन्द्र ने रूप कथा, हास्य कथा, व्रतकथा, गीतकथा आदि भेद गिनाए हैं।

वर्ण्यविषय के आधार पर नीतिकथा, व्रतकथा, प्रेमकथा, मनोरंजन कथा, दन्त कथा और पौराणिक कथा आदि भेद भी हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी वर्ण्य-विषय के अनुसार लोककथाओं की अनेक श्रेणियां गिनाई हैं, यथा - कल्पित कथा (फेबुल), परियों की कथा (फेयरी टेल्स), दन्त कथा (लीजेंड़) और पौराणिक कथा (मिथ)।

लोककथाओं में प्रेम, शृंगार जो कभी-कभी अश्लीलता को छूता है, मंगल-कामना, सुखान्तता, रहस्य-रोमांच और अलौकिकता, स्वाभाविक वर्णन एवं रहस्य रोमांच आदि मुख्य रूप से पाए जाते हैं।

7.14.4. लोक नाट्य :- गीत, नृत्य एवं संगीत से युक्त लोकरंजनात्मक कथावस्तु को लोकभाषा में अभिनीत करना ही 'लोक नाट्य' है। सामान्य व्यक्ति के लिए मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन 'लोकनाट्य' ही हुआ करते थे। दिन भर की परिश्रमजन्य क्लान्ति, चिन्ताओं और अवसाद का परिहार मनुष्य इस प्रकार के मनोरंजक कार्यक्रमों में पाता था। प्रत्येक देश का लोकजीवन-लोकनाट्यों से गुंजित रहा है।

लोकनाट्यों में रास, स्वांग, भंडैती या नकल, भगत या नौटंकी, संगीत-स्वांग, खोइया तथा शारीरिक या कायिक नाट्य-अभिनय। इनमें प्रहसन, नृत्य-नाट्य, नौटंकी और स्वांग आदि अधिक लोकप्रिय रहे हैं।

लोकनाट्यों में सामूहिक अभिनय आडम्बरहीन रंगमंच, विकृत कथा रूप, पुरूष पात्रों द्वारा नारी पात्रों का अभिनय, चरित्र-चित्रण, रूप योजना का अभाव तथा संवाद लोकनाट्य के प्रमुख अंग रहे हैं।

7.14.5. विविध :- 'लोक साहित्य' में लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों तथा ढकोसलों का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकोक्तियों में अनुभवसिद्ध ज्ञान का भण्डार छुपा है। लोकोक्तियां व्यक्तिपरक न होकर सामूहिकता से सम्बन्धित होती हैं। लोकोक्तियों की परम्परा प्राचीन है, वैदिक काल से चली आई है। लोकोक्तियां स्थान, जाति, प्रकृति या कृषि पशुपालन अथवा विविध विषयों की हो सकती हैं।

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है परस्पर बातचीत करना और सवाल करना। अंग्रेजी भाषा में इसे 'ईडियम' नाम से सम्बोधित करते हैं। संस्कृत में इसके लिए कोई रूढ़ शब्द नहीं है। प्रयुक्तता, वाग्रीति, रमणीय प्रयोग आदि शब्दों का व्यवहार इसके लिए होता आया है।

मुहावरों की निम्न विशेषताएं है –

(1) **सापेक्ष-सत्ता**–मुहावरों का अस्तित्व तभी सार्थक होता है जब वह किसी अन्य वाक्य का अंगी बनकर आता है। इसका स्वतन्त्र रूप से कोई महत्त्व नहीं होता।

(2) **अपरिवर्तनशीलता** – मुहावरे का प्रयोग उसके मूल रूप में होता है। शब्दों के पर्याय रख देने से इसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

(3) **लक्ष्यार्थ की प्रधानता** – मुहावरे का उद्देश्य उसके शाब्दिक अर्थ से भिन्न किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करना होता है।

पहेलियाँ : 'पहेली' वाणी का वह दुरुह व्यापार है जिसमें मनुष्य की गोपनीयता की प्रवृत्ति अन्तर्भूत है। जब वक्ता स्पष्ट रूप से सबके सामने अपनी बात कहने में सकुचाता है तब वह पहेली का सहारा लेता है। पहेलियों की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक ग्रन्थों में भी इनका स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य पहेली को 'प्रहेलिका' कहा जाता है। हिन्दी में भी यह परम्परा विकसित हुई। बुद्धि के व्यायाम के लिए खाली समय में मनोरंजन हेतु भी इन पहेलियों का प्रयोग होता आया है। अमीर खुसरो और भारतेन्दु की पहेलियां प्रसिद्ध हैं, पहेलियों के मुख्य विषय खेती, भोज्य पदार्थ, घरेलू वस्तु, प्राणी सम्बन्धी, प्रकृति सम्बन्धी, अंग-प्रत्यंग संबन्धी तथा अन्य प्रकार के रह सकते हैं।

ढकोसला : ढकोसले भी पहेलियों की तरह ही होते हैं परन्तु पहेलियाँ सार्थक होती है और ढकोसले निरर्थक होते हैं। बेतुकी, ऊटपटांग तथा असंबद्ध बातों का उनमें समावेश रहता है। इनका उद्देश्य जनता का मनोरंजन मात्र होता है। किसी प्रकार के बौद्धिक कौशल की इसमें जरूरत नहीं होती। प्राय संस्कृत नाटकों में विदूषक जनता को हंसाने के लिए इनका प्रयोग करते थे।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि विषय और शैली की दृष्टि से लोक साहित्य में विविधता है।

7.15 लोक साहित्य और लोक संस्कृति का अन्तः संबन्ध :

संस्कृति शब्द के आगे 'लोक' विशेषण लगने से जो नया अर्थ बोध होता है उस पर विचार

करना आवश्यक है। लोक और लोकमानस पर इस पाठ में हम चर्चा कर चुके हैं। संस्कृति शब्द की व्याख्या करने के लिए व्युत्पत्तिमूलक अर्थों को लेना आवश्यक है। श्रीपाद दामोदर सातवेलकर के अनुसार, ''संस्कृति का अर्थ 'सम्यक कृति' है और 'संभूत कृति' भी है अर्थात मनुष्य व्यक्तिशः 'सम्यक कृति' करता रहे और संघशः 'संभूय कृति' भी करे।'' व्यक्ति और संघ द्वारा जब सम्यक कृति होती है तो वह मानव को अतिमानव बना सकती है। मन और आत्मा की भूख को शान्त करने के लिए संस्कृति की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

वास्तव में 'लोक-संस्कृति' शब्द अपने आप में विरोधाभास मूलक है। जो लोक का है वह संस्कृत नही हो सकता क्योंकि जिसे हम संस्कृत मानते हैं वह तो संभ्रान्त और शिष्ट संस्कृति का हिस्सा बन जाता है। 'लोक संस्कृति' के स्थान पर इसीलिए 'लोकवार्ता', 'लोकयान', 'लोकायन' जैसे अनेक शब्दों को प्रचलित करने का प्रयास किया गया।

डॉ० रामानन्द तिवारी के अनुसार ''लोक-संस्कृति को संस्कृति का लोकप्रिय और जीवंत रूप कहा गया है। डॉ० सत्येन्द्र ने लोकवार्ता को लोक संस्कृति का पर्याय मानते हुए लिखा है – ''इसके अंतर्गत वह समस्त आचार-विचार की सम्पत्ति आ जाती है, जिनमें मानव का परम्परित रूप प्रत्यक्ष हो उठता है और जिसके परिमार्जन अथवा संस्कार की चेतना काम नहीं करती होती। लौकिक धार्मिक विश्वास, धर्मगाथाएं तथा कथाएं, लौकिक गाथाएं, कहावतें, पहेलियां आदि सभी 'लोकवार्ता' के अंग हैं। वास्तव में लोक-संस्कृति अन्तः सलिला सरस्वती की भांति जन जीवन में सतत प्रवाहित हुआ करती है। लोक कलाओं, आस्थाओं, विचारणाओं, परम्पराओं, प्रथाओं आदि की सहज-धारा को लोक-संस्कृति के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है।

7.16 सारांश

'लोक साहित्य' पर विचार करते हुए हमने देखा कि उसमें भी लोकमानस की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है। 'लोक संस्कृति' में अनेक धरातल हो सकते हैं इसी तरह 'लोक साहित्य' की भी अनेक विधाएँ हो सकती हैं। 'लोक साहित्य', 'लोक संस्कृति' से अपना कथ्य लेता है। 'लोक संस्कृति' और 'लोक साहित्य' में जनक और जनित का सम्बन्ध है। संस्कृति का धरातल, साहित्य से कहीं व्यापक है फिर भी दोनों एक दूसरे को प्रभावित एवं प्रेरित करते हुए विकसित होते हैं।

7.17 कठिन शब्द

1) सहस्त्र 2) जनजीवन

3) व्युत्पत्ति
4) सर्वोच्च
5) शिलालेख
6) बौद्धिक
7) अनुष्ठान
8) अर्थवाचकता
9) गतिबोधक
10) अवशिष्ट
11) गौरव मण्डित
12) श्रेष्ठतावादिता
13) परिदृश्य
14) परिकल्पना
15) अर्द्धचेतन
16) अनुभूति
17) उर्ध्वमुखी
18) अधोमुखी
19) प्रवाहित
20) परिष्कार
21) पराप्राकृतिक

7.18 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तराप्रेक्षी

1. लोक-साहित्य के प्रमुख घटक कौन-कौन से हैं? लोक साहित्य का सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार क्या हैं।

----

2. लोक साहित्य के प्रमुख घटकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

----

3. लोक संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लोक-साहित्य से उसके सम्बन्धों पर विचार कीजिए।

लघु उत्तरापेक्षी

1. लोक साहित्य के प्रमुख घटक कौन से हैं?

----

2. लोक साहित्य और लोक संस्कृति के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करें।

----

3. लोक साहित्य के किन्हीं दो प्रमुख घटकों पर चर्चा कीजिए।

----

4. लोक मानस के तत्वों पर चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ

1. लोक संस्कृति से क्या अभिप्राय है?

----

2. लोक मानस को किन चार वर्गों में बांटा गया है।

7.19 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य-चन्द्रबली सिंह
2. लोक साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग - डॉ. श्री राम शर्मा
3. लोक साहित्य की भूमिका - डॉ. रवीन्द्र भ्रमर
4. लोक साहित्य के प्रतिमान - डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती

हिन्दी साहित्य के अध्ययन में लोक साहित्य का महत्व

रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 लोक साहित्यकार और परिनिष्ठित साहित्यकार का सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश

8.4 संस्कृति के विभिन्न स्तर

8.5 सांस्कृतिक स्तरीकरण का मनोवैज्ञानिक आधार

8.6 संस्कृति की महान तथा लघु परंपरा

8.7 जनजातीय सांस्कृतिक धारा

8.8 हिन्दी साहित्य लेखन और लोकतत्व

8.9 हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों में लोकतत्व

8.10 सारांश

8.11 कठिन शब्द

8.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

8.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख में आप लोक साहित्यकार और परिनिष्ठित साहित्यकार का सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश को जान सकेंगे।
- संस्कृति के विभिन्न स्तर क्या हैं इस बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों, साहित्यिक प्रवृतियों के विकास में 'लोक साहित्य' की क्या भूमिका रही है? इस बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

8.2 प्रस्तावना

लोकवार्ता, लोक साहित्य जिसका प्रमुख अंग है परिनिष्ठित साहित्य से अभिन्न रूप से जुड़ी होती है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में लोकतत्त्वों का जाने-अनजाने, चेतन अथवा अवचेतन रूप से प्रयोग करते रहते हैं। इसी प्रकार साहित्य भी लोकवार्ता को प्रभावित करता चलता है। प्रत्येक देश का आदिकालीन साहित्य मुख्यत: लोकतात्विक होता है और कालान्तर में ये लोकतत्व उसमें स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। जो साहित्यकार जनता से अधिकाधिक निकटता प्राप्त करना चाहता है वह निरन्तर लोकतत्त्वों को अपने साहित्य में स्थान देता चलता है।

साहित्यकार और लोक साहित्यकार एक ही समाज का अंग होते हैं इसलिए उनकी रचनाओं का एक-दूसरे से गहरा सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। लोकतत्त्व साहित्यकार की रचना शैली के अविभाज्य अंग होते हैं। साहित्यकार और लोककवि या लोक कलाकार की रचना-प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है केवल अभिव्यक्ति में अंतर है। लोकतत्त्व भी रचना प्रक्रिया से संबन्ध रखते हैं। अत: किसी साहित्य में उनका समावेश खोजने के लिए हमें साहित्यकार के व्यक्तित्व की परीक्षा करनी पड़ती है। साहित्यकार का व्यक्तित्व, सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप निर्मित होता है इसलिए उसका विश्लेषण भी आवश्यक है।

8.3 लोक साहित्यकार और परिनिष्ठित साहित्यकार का सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश

लोकगायक या कलाकार अपने बाह्य वातावरण से प्रभावित भी होते हैं और उसे प्रभावित भी करते हैं। उनकी मानसिक तथा सामाजिक भूमि विभिन्न आचार-विचारों, रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों तथा आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक चेतनाओं के विशाल भंडार से निर्मित होती है। इन सबके समन्वित रूप को ही सांस्कृतिक परिवेश कहते हैं। भौगोलिक रूप से यह संस्कृति मुख्यत: आंचलिक, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय इकाइयों से मिलकर बनती है। प्रादेशिक सीमाओं के भीतर भी छोटे-छोटे क्षेत्रों के सांस्कृतिक तत्त्व कहीं बड़े स्पष्ट और प्रभावपूर्ण होते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में संस्कृति के विभिन्न स्तर भी दिखाई पड़ते है जैसे कि एक ही समाज में अभिजात्य, मध्य तथा निम्नवर्ग के रूप में वे विद्यमान होते हैं। यह वर्ग-भेद गांवों में भी जमींदार सामन्त, संपन्न किसानों के आभिजात्य वर्ग तथा साधारण किसान, भूमिहीन मजदूर, कारीगरों के निम्न वर्ग के रूप में देखा जा सकता है।

भौगोलिक परिस्थितियां भी राष्ट्र के भीतर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक परिवेशों को जन्म देती हैं। आवागमन के साधनों का विकास, जलवायु, सम्पर्क स्थापित करने की सुविधा-असुविधा

तथा जीवन-यापन के साधनों की सुलभता या दुर्लभता विभिन्न क्षेत्रों के सांस्कृतिक परिवेश को निश्चित करती है। मरुस्थलीय क्षेत्र, पहाड़ी क्षेत्र, समुद्र-तटीय क्षेत्र तथा उपजाऊ मैदानी भागों के सांस्कृतिक परिवेश में कुछ विभिन्नता अवश्य रहती है। लोक कलाकार या साहित्यकार का व्यक्तित्व इससे प्रभावित होता है। साहित्य में 'लोकवार्ता' या 'लोक संस्कृति' का प्रभाव देखने के लिए हमें लोकवार्ता पर पड़ने वाले संस्कृति के विविध प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

राष्ट्रीय साहित्य एवं लोकवार्ता, इन दोनों के निर्माण में विभिन्न सांस्कृतिक धरातलों का योगदान रहता है। देश के विभिन्न अंचलों, प्रदेशों में रहने वाले मानव समूहों में प्राचीनता और नवीनता, बौद्धिकता और भावात्मकता तथा अमीरी-गरीबी के अनेक स्तर संभव हैं। बड़े औद्योगिक शहरों में पूंजीपति, उद्योगपति, मिल-मजदूर और छोटे काम-धन्धे करने वाले लोगों के अनेक वर्ग हो सकते हैं। अलग-अलग वर्गों में अलग-अलग प्रकार का साहित्य प्रचलित हो जाता है।

साहित्य और लोकवार्ता सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से प्रभावित होते ही हैं। सभ्यता के विकास के साथ वैयक्तिकता और विशिष्टता बढ़ती है तथा सामूहिकता और समरसता कमजोर पड़ती है। पिछड़े हुए, अशिक्षित समाज वातावरण पर अधिक निर्भर होते हैं और उनके लोकसाहित्य में लोक तत्त्व भरपूर रहता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों का प्रभाव साहित्य एवं लोकवार्ता पर समानरूप से पड़ता है। जब कलाकार का व्यक्तित्व साहित्य में अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगता है तो 'शिष्ट साहित्य' का सृजन होता है। लोकवार्ता में जातिगत एकता एवं सामूहिकता प्रतिबिम्बित होती है। सभ्यता के विकास के साथ जातिगत और सामूहिक बन्धन ढीले पड़ने लगते हैं, समाज में व्यापक एकरूपता आने लगती है जो परिनिष्ठित साहित्य के निर्माण में साधक है। ऐसे सभ्य समाज में 'लोक साहित्य' धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है। समाज जितना अधिक जटिल अथवा सभ्य होगा, 'लोक साहित्य' उतना ही कम लिखा जाएगा।

किसी भी देश का साहित्येतिहास उठा कर देखें तो पाएंगे कि प्राचीन तथा मध्य युग का साहित्य अधिकाधिक लोक तत्त्वों से युक्त था। प्राचीन एवं मध्यकालीन समाज में कलाकार की वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता और सामूहिकता 'लोक साहित्य' में अधिक महत्त्वपूर्ण रहती थी। वर्गभेद की जगह सामूहिक संगठन की भावना इन युगों में प्रधान थी।

'लोकवार्ता' की सृष्टि व्यक्ति और वृहत् समाज के बीच, अपेक्षाकृत सामाजिक जटिलताओं

से युक्त छोटे-छोटे समूह करते हैं। इन समूहों की एकता आंतरिक संवेदनाओं के आधार पर प्रतिष्ठित होती है।

8.4 संस्कृति के विभिन्न स्तर

किसी देश के सामाजिक विकास का प्रभाव उसके सांस्कृतिक ढांचे पर भी पड़ता है जो उस समय विद्यमान परिनिष्ठित साहित्य एवं लोकवार्ता को प्रभावित करता है। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में दो सांस्कृतिक धाराएं समानन्तर प्रवाहित होती दिखती हैं। उच्च स्तरीय धारा शास्त्रानुमोदित शिक्षित समुदाय द्वारा पुष्ट की जाती है तथा परिनिष्ठित साहित्य का सृजन यही धारा करती है। संस्कृति की निम्न धारा में लोक सामान्य तत्वों की प्रतिष्ठा होती है। दैनिक जीवन के क्रियाकलाप, विश्वास, प्रथाएं, रहन-सहन आदि की लोक-परम्पराएं गतिशील होती रहती हैं। 'लोक साहित्य' का निर्माण यही निम्न स्तरीय सांस्कृतिक धारा करती है। समय के साथ समाज विकसित होता है। आर्थिक विकास के कारण शहरों और गांवों की दूरी मिटने लगती है तथा उच्च और निम्नवर्ग के बीच मध्यमवर्ग विकसित होने लगता है। यह मध्यमवर्ग अपनी संवेदनाओं और विचारों का बड़ा हिस्सा निम्न स्तरीय संस्कृति से लेता है और उससे जुड़ा भी रहता है साथ ही वह शिक्षा और आर्थिक प्रगति के द्वारा उच्च स्तरीय संस्कृति से जुड़ने का भी प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में 'लोक साहित्य' की धारा परिनिष्ठित साहित्य के अधिक निकट आ जाती है और उसे शिल्प और कथ्य के स्तर पर प्रभावित करने लगती है। परिनिष्ठित साहित्य का शिल्प भी लोक साहित्य को प्रभावित करने लगता है। लोक साहित्य और साहित्य में आदान-प्रदान की यह स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। समाज में उच्च स्तरीय संस्कृति और निम्नस्तरीय संस्कृति की अवधारणा काल्पनिक नहीं बल्कि इसका मनोवैज्ञानिक आधार भी पुष्ट है।

8.5 सांस्कृतिक स्तरीकरण का मनोवैज्ञानिक आधार

मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक फ्रायड, जुंग, सी० करेन्यी, वान-फ्रांज आदि विद्वानों की शोध के आधार पर यह सुनिश्चित हुआ कि मानव मन में चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन के तीन स्तर होते हैं। अचेतन मन इसका 75% से अधिक होता है और यह अत्यधिक प्राचीन और विस्तृत होता है। जुंग के अनुसार अचेतन वैयक्तिक भी होता है और सामूहिक भी। वैयक्तिक अचेतन दिन-प्रतिदिन की दमित वासनाओं, इच्छाओं से निर्मित होता है जबकि सामूहिक अवचेतन संपूर्ण मानव जाति के उत्तराधिकारी के रूप में मनुष्य को प्राप्त होता है। व्यक्तिगत चेतन में वे उपादान रहते हैं जो तत्कालीन समाज में अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं इसलिए अचेतन में दब जाते हैं। सामूहिक

अचेतन में समस्त मिथकीय अभिप्रायों, अवदानों, अनुष्ठानों, परीकथाओं, भूत-प्रेतों से जुड़े अन्ध-विश्वासों आदि का निवास अचेतन में ही रहता है जो चेतन में प्रवेश के लिए व्याकुल रहता है। संस्कार रूप में ये तत्व मानसिक परम्परा के उत्तराधिकार में मनुष्य को प्राप्त होते हैं। मिथकीय विचारों के रूप में इनके आद्यरूप दिखाई पड़ते हैं। मातृशक्ति का आद्यरूप, जन्म देने वाली मां, दादी, सौतेली मां, सास आदि में दिखाई पड़ता है।

8.6 संस्कृति की महान तथा लघु परम्परा

मनुष्य के चेतन मानस का सम्बन्ध आदर्शवादी, शास्त्रीय, परिनिष्ठत आचार-व्यवहार से होने के कारण संस्कृति की उच्चधारा से होता है जो परिनिष्ठित साहित्य को जन्म देती है। मानव मन के अचेतन अंश से संस्कृति की निम्न-स्तरीय धारा पुष्ट होती है जिसमें आद्यबिम्ब तथा अन्य लोक तत्त्व विद्यमान रहते हैं और उन्हीं से 'लोक साहित्य' का निर्माण होता है। सामाजिक विकास के साथ-साथ ये दोनों सांस्कृतिक धाराएं परिस्थितियों के अनुसार ऊपर उठती या नीचे की ओर खिंचती है जिससे साहित्य और लोकसाहित्य में आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त होता है। मानव के चेतन और अचेतन की सीमा रेखा घटती बढ़ती रहती है, चेतन का मृत अंश अचेतन में प्रवेश कर जाता है और अचेतन का गतिशील अंश अर्द्धचेतन की आंख बचाकर चेतना का हिस्सा बन जाता है। आदिम समाजों में अचेतन का ही प्रभुत्व रहता है इसी कारण उसकी विचारधारा को विद्वानों ने 'प्री लॉजिकल' अथवा 'तर्क पूर्व' बताया है। ज्यों-ज्यों समाज सभ्य होता जाता है, विधि-निषेध और वर्जनाएं बढ़ती हैं परिणामस्वरूप समाज लोक तत्त्वों से कटकर शास्त्रीय आधार पर अवस्थित हो जाता है और साहित्य भी शास्त्र परिचालित होने लगता है। असभ्य समाज की संस्कृति लोक-संस्कृति हुआ करती है। राबर्ट रेडक्लिफ ने अपनी दो पुस्तकों 'पीजेंट सोसाइटी एण्ड कल्चर' (1956) तथा 'दि लिटिल कम्युनिटी' (1958) में महान परम्परा (ग्रेट ट्रेडिसन) और लघु परम्परा (लिटिल ट्रेडिसन) का वर्णन कर इन दोनों सांस्कृतिक धाराओं की उपस्थिति और पारस्परिक निर्भरता पर विचार किया है।

दार्शनिकों, धर्माध्यक्षों तथा साहित्यकारों की सोद्देश्य विचार-परम्परा महान परम्परा है जबकि आम आदमी की विचारधारा जिसे तर्क-वितर्क की कम आवश्यकता होती है और जो आस्था और विश्वास पर आश्रित होती है, लघु परम्परा बनती है। इसी लघु परम्परा का आदिम जातियों में बाहुल्य रहता है जिनके कथातत्वों को लेकर साहित्यकारों ने बड़े-बड़े महाकाव्यों का सृजन किया है। ये महाकाव्य कालान्तर में लोक समाजों की ओर लौट गए और समाज में प्रचलित लोक-तत्वों को पुष्ट करते दिखे।

हिन्दी साहित्य में लोकवार्ता या लोक साहित्य के प्रभावों की खोज करते हुए अथवा 'लोक साहित्य' में हिन्दी साहित्य का प्रभाव खोजते हुए हमें सांस्कृतिक प्रवाहों को दृष्टिगत रखना होगा। हमारे यहां प्रथम वैदिक परम्परा थी तो दूसरी लौकिक परम्परा थी जो युगों से भारतीय समाज में प्रवाहित रही। साहित्य पर लोकतत्वों के प्रभाव की बात करते समय हम साहित्य को अपने व्यापकतम रूप में लेते हैं। मौखिक, अर्जित और परम्परित और लौकिक, व्यक्तिकृत एवं सामूहिक सभी प्रकार के वाङ्मय की अभिव्यक्तियां इसमें सम्मिलित हैं।

'लोक साहित्य' के निर्माण में लोक मानस और लोक-संस्कृति का योगदान समान रूप से रहता है इस पर हम पिछले पाठ में विचार कर चुके हैं। भारत में लोकवार्ता और परिनिष्ठित साहित्य में आपसी सहयोग रहा और उच्च सांस्कृतिक धारा और निम्न-स्तरीय सांस्कृतिक धाराएं एक दूसरे की विरोधी न होकर सहयोगी होकर बही, यह कोई संयोग नहीं बल्कि ऐसे मानव समूहों के योगदान का परिणाम था जो उच्च-स्तरीय और निम्न-स्तरीय संस्कृति के बीच सहज सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते रहे। पुरोहित, पण्डित, भाट, नट और बाजीगर, गणिकाएं और नर्तक, लोकगायक और कथाकार ऐसे मानव समूह थे जिन्होंने संभ्रान्त वर्ग और सामान्य वर्ग को, उच्च स्तरीय सांस्कृतिक धारा और निम्न स्तरीय धारा को, लोक और वेद को, लोक साहित्य और परिनिष्ठित साहित्य को एक-दूसरे के निकट लाने का कार्य किया है। रामलीला मण्डलियां, दुर्गापूजा और गणेशोत्सव मनाने वाली मंडलियां, लोकगायकों के समूह तथा ग्रामीण अभिनेता आदि ऐसे कलाकार हैं जो लोक और विशिष्ट समाज को निकट लाते रहे हैं।

8.7 जनजातीय सांस्कृतिक धारा

उच्च स्तरीय सांस्कृतिक धारा और निम्न वर्गीय सांस्कृतिक धारा एक-दूसरे की पूरक रही हैं परन्तु वनवासी एवं गिरिवासी समूहों के बीच पूरी तरह से आत्मनिर्भर जनजातीय संस्कृतियां विकसित होती रही हैं। इन जातियों की धार्मिक, आर्थिक और वैचारिक स्वतंत्रता रही है। सामूहिकता इन समाजों की विशेषता रही है तथा उत्सवों, आयोजनों, शिकार तथा अन्य काम-धन्धों में सामान्य रूप से सामूहिक श्रम इनकी पहचान रहा है। जनजातियां विकास की निम्न पायदान पर रही हैं और इनका साहित्य लोकवार्तामूलक रहा है। मध्य भारत में गोंड़, संथाल, औरांव, बैगा, मुण्डा आदि जातियों ने भारतीय साहित्य को बहुत कुछ दिया है।

आधुनिक समाज में वर्गीय अस्थिरता एवं जातीय विघटन स्पष्ट दिखाई दे रहा है। एक बहुत बड़ा मध्यमवर्ग विकसित हो रहा है जिसका जीवन-दर्शन लोक-परम्परा से तो भिन्न है ही,

वह विशिष्ट वर्ग को भी बदलना चाहता है। इसके प्रभाव से लोक-समूहों में भी बदलाव दिखाई पड़ता है। मध्यकाल में सामान्य लोक परम्परा के लोग अपने आप को विशिष्ट वर्गीय ढांचे में स्वेच्छा से ढ़ालते रहे और विशिष्ट वर्गों ने भी उन्हें बदलने का प्रयास नहीं किया, आज वे तेजी से बदल रहे हैं। आज भारत का अभिजात समाज, लोक समाज तथा जनजातीय समाज को इतनी तेजी से बदल रहा है कि लोकवार्ता के समाप्त होने का खतरा पैदा हो गया है। आज 'लोक साहित्य' की रक्षा के लिए उसे लिपि बद्ध करना आवश्यक हो गया है। 'लोक साहित्य' लिपिबद्ध होकर अपनी स्फूर्ति, अपनी सतत परिवर्तनशीलता, अपनी लोकोन्मुखी भूमिका धीरे-धीरे खो देता है और 'शिष्ट साहित्य' की ही तरह स्थिर या जड़ हो जाता है।

औद्योगीकरण और वैश्वीकरण से सम्पूर्ण मानव समाज की संस्कृति, आभिजात्य और मॉस कल्चर में बंटती जा रही है। मॉस कल्चर, लोक संस्कृति नहीं है। यह यंत्रीकृत समाज में जन्म लेने वाली, चेहरा विहीन, समाज अथवा राष्ट्र की जड़ों से कटी हुई यान्त्रिक संस्कृति है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन में 'लोक साहित्य' के योगदान पर विचार करते हुए यह देखना होगा कि हिन्दी साहित्य अपने जन्म से ही किस सांस्कृतिक परिवेश और सांस्कृतिक-स्तर से संबद्ध रहा, हिन्दी साहित्य अपने विकास के विभिन्न चरणों में 'लोक साहित्य' से कैसे प्रभावित हुआ तथा कौन से तत्त्व आज भी 'लोक साहित्य' से लेकर वह अपनी यात्रा आगे बढ़ा रहा है। भारतीय 'लोक साहित्य' का अध्ययन किए बिना हिन्दी साहित्य की अनेक गुत्थियों को सुलझा पाना संभव नहीं।

8.8 हिन्दी साहित्य लेखन और लोकतत्व

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रारम्भिक प्रयास भले ही 'गार्सा-द-तांसी' जैसे विद्वानों से हुए हों परन्तु यह बात सर्वमान्य है कि साहित्येतिहास लेखन का पहला गम्भीर प्रयास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया जिसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती शिवसेंगर और मिश्र बन्धुओं द्वारा एकत्रित सामग्री का भरपूर प्रयोग किया। माना जाता है कि शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्येतिहास को शास्त्रीय रूप दिया और इसे जनता की चित्तवृत्ति से जोड़ा। शुक्ल जी ने साहित्य का इतिहास लिखते समय अनेक स्थलों पर संकेत दिए हैं कि वे वैदिक, अपभ्रंश और प्राकृत की परम्परा में हिन्दी साहित्य का विकास देखते हुए भी लोकधारा के साहित्य की भूमिका से अनजान नहीं थे। स्थानीय बोलियों में प्रभूत मात्रा में साहित्य मौखिक परम्परा से चला आ रहा था जो परिनिष्ठित साहित्य को गति दे रहा था। 'सूरसागर' के साहित्यिक उत्कर्ष पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा कि यह निश्चय ही मौखिक

रूप से चली आती हुई कृष्ण भक्ति गीति काव्य की परम्परा से पुष्ट हुआ है। जायसी के काव्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा कि अवधी में चली आती कहानी को सूक्ष्म ब्योरों के साथ जोड़कर जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की। शुक्ल जी रचना और रचनाकार का महत्त्व शास्त्रीय कसौटी पर कसकर निर्धारित कर रहे थे इसलिए 'लोक साहित्य' के अवदान पर अधिक नहीं लिख पाए। उनके सामने रचनाओं की प्रामाणिकता और साहित्यिकता स्थापित करने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनके समय तक लोकवार्ता साहित्य अभी बहुत कम मात्रा में प्रकाश में आया था संभवतः इसलिए भी हिन्दी साहित्य से उसके सम्बन्ध को उन्होंने विस्तारपूर्वक स्पष्ट नहीं किया।

शुक्लोत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में एक बड़ा नाम हजारी प्रसाद द्विवेदी का है जिन्होंने हिन्दी की शास्त्रीय परम्परा के साथ-साथ लौकिक परम्परा की उपस्थिति को रेखांकित किया और हिन्दी साहित्य के विकास में उसके योगदान पर प्रकाश डाला। द्विवेदी जी ने 'पृथ्वीराज रासो' को विकसनशील महाकाव्य माना और उसके मूल रूप को शुक-शुकी संवाद तक सीमित कर सिद्ध किया कि यह लोक काव्य के रूप में पहले से ही प्रचलित था भले ही इसके लेखन का श्रेय कवि चन्द को दिया जाए। रासो के अनुसार चन्द को पृथ्वीराज का समवयस्क, योद्धा और कवि सिद्ध किया गया है जिसने सुख-दुख में उसका साथ दिया।

द्विवेदी जी ने भक्त कवियों पर विचार करते हुए स्पष्ट किया कि उनका साहित्य वैदिक परम्परा में कम और लौकिक परम्परा में अधिक आता है। वे तो मुस्लिम शासन के प्रभाव को भी नगण्य मानते हैं और लोक में चली आ रही परम्पराओं का विकास इस साहित्य को मानते हैं। भक्ति साहित्य की प्रवृत्तियाँ जिन सामाजिक अवस्थाओं में आरम्भ हुईं उन्हें जानने का महत्त्वपूर्ण साधन लोकगीत, लोककथाएं, लोकोक्तियाँ आदि ही हैं। इनके साथ ही विभिन्न जातियों, संप्रदायों, साधना पद्धतियों, और अनुष्ठानों का अध्ययन भी इस काल के साहित्य को समझने में सहायक है।

'लोक साहित्य' मूलतः जनपदीय, आंचलिक अथवा लोक भाषाओं में ही रचा जाता है। हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य भी जनपदीय बोलियों में रचा गया। उनमें से अवधी और ब्रज विकसित होकर परिनिष्ठित भाषा-साहित्य के सृजन में सहायक बनी जबकि बांगरू, भोजपुरी, बुन्देली, कन्नौजी आदि का साहित्य बोलियों में ही रह गया और मौखिक रूप से संतरण करता रहा। यह कहा जा सकता है कि जिस रचना या साहित्य पर व्यक्ति-विशेष का व्यक्तित्व हावी नहीं है और जो मौखिक परम्परा से चलती आ रही हो वह बोली में हो या क्षेत्रीय, आंचलिक भाषा में, उसे 'लोक साहित्य' का हिस्सा मानेंगे। दूसरी और बोलियों का बहुत सा साहित्य कवि विशेष द्वारा, विशेष लक्ष्यों की पूर्ति हेतु लिखा जाने के

कारण परिनिष्ठित साहित्य ही माना जाएगा। वाणी (स्पीच), बोली (डायलेक्ट), और भाषा (लैंग्वेज) का अन्तर यही है कि वाणी वैयक्तिक रूप से अर्जित और स्वीकृत है, बोली को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है और भाषा, मानक रूप पा लेने के कारण लिखित और सामान्य रूप से समाज में स्वीकृत रहती है। लोकभाषा का सम्बन्ध वाणी और बोली की मौखिक परम्पराओं से ही अधिक रहता है।

गंगा नदी की घाटी में शौरसेनी और मागधी अपभ्रंश मथुरा से काशी तक विकसित हुईं और इनसे ब्रज तथा अवधी बोलियां विकसित होकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर गईं। इनमें रचित अधिकांश साहित्य लोक तत्त्वों से भरपूर रहा और इन भाषाओं की बनावट में भी लोक से जुड़े मिथक, बिम्ब, प्रतीक, मुहावरे और लोकोक्तियां भरपूर मात्रा में प्रयुक्त हुईं। परिनिष्ठित प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव भी मध्यकालीन साहित्य पर दिखाई पड़ता है।

ऐसे समय में मुसलमानों का आगमन इस क्षेत्र में हुआ जिनके सम्पर्क से दिल्ली, मेरठ के आसपास जनसाधारण में बोलचाल का एक तीसरा जनपदीय रूप उभरा जिसे कभी हिन्दवी तो कभी उर्दू कहा गया। इसका पूर्ण विकास अंग्रेज़ों के समय हुआ और यह परिनिष्ठित हिन्दी बनी। दक्षिणी भारत में दक्किनी हिन्दी में अरबी-फारसी का प्रयोग कम हुआ और यह दक्षिण में साहित्य की भाषा बनी।

ब्रज, अवधी और खड़ी बोली की परिष्कृत रचनाएं हिन्दी के परिनिष्ठित साहित्य का हिस्सा हैं जबकि इनकी लोक प्रचलित रचनाओं को हिन्दी के 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत आना चाहिए। केवल बोलियों का वही साहित्य 'लोक साहित्य' है जो व्यक्ति निरपेक्ष, परंपरानुमोदित और अधिकतर मौखिक परंपरा से हम तक पहुँचा है।

हिन्दी की कुछ बोलियों का साहित्य परिनिष्ठित साहित्य बन गया जैसे अवधी और ब्रज का और कुछ बोलियां जैसे बुन्देली, कन्नौजी, भोजपुरी आदि का साहित्य कथ्यावस्था में होने के कारण परिनिष्ठित साहित्य की जगह लोक साहित्य मान लिया जाता है। बोलियों का ऐसा व्यक्तिनिष्ठ, उद्देश्य-निष्ठ साहित्य निश्चय ही कम परिनिष्ठित साहित्य है, लोक साहित्य नहीं। परिनिष्ठित साहित्य में लोकतत्त्व पचा लिए जाते हैं और उन्हें काव्य रचना प्रक्रिया का अविभाज्य अंग होने के कारण खोजना पड़ता है, जबकि कम परिनिष्ठित साहित्य में ये तत्त्व निरन्तर देखे जा सकते हैं।

8.9 हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों में लोकतत्त्व

'लोक साहित्य' किसी भी साहित्य के प्रारम्भिक युग में अधिक प्रभाव डालता है और वह

प्रमुखता से उसमें देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास में 'लोक साहित्य' की भूमिका पर विचार करना हिन्दी साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है।

8.9.1 आदिकाल

हिन्दी साहित्य का आदिकाल दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में सिद्धों, नाथों, जैनों, वैष्णवों, रासो काव्य और खुसरो आदि की मुकरियों, पहेलियों आदि का साहित्य मिलता है। लोकपरक रचनाएं अपने मौखिक स्वरूप के कारण नष्ट भी होती रहती हैं। सिद्धनाथ कवियों की उक्तियों में उनका मूल अंश कितना है और लौकिक तत्त्व कितने यह बता पाना कठिन है। व्यक्तिकृत तथा लोककृत धाराएं इस युग में घुली-मिली हैं। 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'आल्हा खण्ड' जैसे विकसनशील महाकाव्य इस युग के हैं जिनमें 'रासों' सोलहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते वृहदरूप धारण कर लेता है। परम्परा से चन्द ही उसका रचयिता माना जाता है। 'आल्हा खण्ड' के प्रदेश के आधार पर पन्द्रह सोलह रूपान्तर हैं और यह मौखिक परम्परा से ही प्रचारित हुआ। कवि जगनिक को इसका रचयिता कहा जाता है परन्तु उसके विषय में किसी तरह की अन्य जानकारी नहीं मिलती। इसमें भाषिक और कथ्य के स्तर पर इतना परिवर्तन, परिवर्द्धन हुआ है कि यह सामूहिक रचना बन गई है और लोककाव्य का उदाहरण है। कवि का व्यक्तित्व इसमें गौण है। इसी युग की एक और लोकप्रिय कथा 'ढोला मारु रा दूहा' है जो प्रेमगाथा है। 'बीसलदेव रासो' भी बीसलदेव विरचित प्रेमगाथा है। ये प्रेमाख्यान पूरी तरह लोक धरातल पर निर्मित हुए थे। अनेक 'डिंगल' नामधारी रचनाएं इसी श्रेणी की हैं और इटैलियन विद्वान टेसीटेरी ने 'डिंगल' को अनियमित लोकभाषा स्वीकार किया है।

जैन साधुओं की 'रास' या 'रासान्वयी' अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जो सामूहिक गायन और नृत्य के लिए रची गई थीं। 'भरतेश्वर बहुबलिरास', 'नेमिनाथ रास', 'जीवदया रास' आदि जैन रचनाएं अपने में लोकतत्त्वों का भण्डार समेटे हैं। सिद्धों और नाथों की वाणियों में लोक तत्त्व अधिक मुखर हैं जिन्हें आज भी फकीर गली-गली गाते फिरते हैं। सिद्ध-नाथों के उत्तराधिकारी कबीर एवं अन्य संत कवियों के काव्य में लोक काव्य का कथ्य एवं शिल्प मिला है।

आदिकालीन साहित्य के अधिकांश रचयिता विशेषकर सिद्ध और नाथ निम्नवर्गों से आए थे। इनमें कुम्हार, शिल्पकार, चर्मकार, रजक, जुलाहे आदि थे। यही निम्न मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग

आज भी 'लोक साहित्य' का रक्षक और उन्नायक स्वीकार किया जाता है। इस साहित्य की भाषा बोलचाल की लोकभाषा है। बोलचाल के प्रयोग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा शब्दावली इनमें मिलेगी।

जैसा कि स्वाभाविक भी है आदिकालीन साहित्य पर 'लोक साहित्य' और परम्पराओं की गहरी छाप है। तत्कालीन समाज में जो सांस्कृतिक परिवेश था उसकी अभिव्यक्ति वीर, प्रेम, वैराग्य आदि भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा सहज रूप में हुई है।

उस युग का प्रबुद्ध समाज अभी भी संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत के परिनिष्ठित रूपों से जुड़ा था और उन्हें ही अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाए हुए था। इस प्रकार संस्कृति की उच्चस्तरीय धारा और निम्न-स्तरीय धारा साथ-साथ बह रही थी। इस युग के प्राप्त, लिपिबद्ध साहित्य को परिनिष्ठित हिन्दी साहित्य ही स्वीकार करेंगे परन्तु साथ ही उस पर पारम्परिक 'लोक साहित्य' की गहरी छाप को भी हम अनदेखा नहीं कर सकते। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'शिष्ट साहित्य' के साथ 'लोक साहित्य' का आनन्द लेने के लिए हिन्दी के पाठकों से कहा, ''हम भारतीय नागरिक लोग अभी तक केवल मलाई का स्वाद लेते रहे हैं, पूर्ण तृप्ति और स्वाद के लिए मलाई सहित कटोरा भर दूध होना चाहिए।'' निश्चय ही मलाई यहां 'शिष्ट साहित्य' है और कटोरा भर दूध 'लोक साहित्य' है।

8.9.2 भक्ति काल :

मध्यकाल में दो प्रमुख बा०तें भारतीय समाज में दिखाई दीं। पहली, मुसलमानों का उच्चवर्ग जिसमें मुल्ला, मौलवी, काजी, सरकारी उच्चाधिकारी और शासक वर्ग था, हिन्दुओं के उच्चवर्ग पंडितों, विद्वानों, दार्शनिकों से निकट सम्बन्ध स्थापित करने में असफल रहा इसलिए उच्च स्तर पर तनाव और वैमनस्य बना रहा। लोक के स्तर पर साधारण मुसलमान और हिन्दू एक-दूसरे के अधिक निकट आए और सन्तों-सूफियों के प्रचार ने उन्हें एक किया। दूसरी घटना अवधी और ब्रज के विकास और वर्चस्व के रूप में घटित हुई। ब्रज भाषा के विकास के अनेक स्वर 'सूर सागर' में ही उपलब्ध हैं। तत्कालीन विभिन्न कवियों के काव्य में भाषिक विकास के अनेक स्तर देखे जा सकते हैं। तुलसी और जायसी दोनों ने 'अवधी' का प्रयोग किया है परन्तु दोनों का भाषिक स्तर एक-सा नहीं है। यही स्थिति नन्ददास, कुतुबन, मंझन, परमानन्ददास और मीराबाई की भी है।

हिन्दू मुसलमानों के निकट आने से एक सामासिक संस्कृति और साहित्य का विकास हुआ। हिन्दी के सूफी कवियों ने समाज के निम्नवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग की सभी जातियों को लोक परम्परा

के भीतर मिलाने का प्रयास किया।

भक्तिकाल के जैन, हिन्दू अथवा मुसलमान सूफी कवि अधिकतर लोक समाज के ही कवि थे, उन्होंने शास्त्र की अपेक्षा लोक को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। लोकरंजन और लोकरक्षण उनका लक्ष्य था, दार्शनिक विचारों का खंडन-मंडन उन्हें अभिप्रेत नहीं था। उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम लोकभाषाएँ ही रहीं। संस्कृत भाषा उनकी प्रेरक नहीं थी। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, नन्ददास, रहीम, रसखान जैसे भक्तिकालीन कवि लोक परम्परा से ही अधिक जुड़े थे। इन कवियों ने ऐसी कथाओं, विचारों अथवा आचारों का समर्थन किया जो पहले ही लोक की स्वीकृति पा चुके थे। इन कवियों में से तुलसी, नन्ददास जैसों ने शास्त्रीय परम्परा का अवगाहन भी किया था और उसे लोक परम्परा से जोड़ा भी। इन कवियों को शास्त्रीय परम्परा का वाहक भी कहा जा सकता है। कुछ रचनाओं में शास्त्रीय परम्पराओं का निर्वहण भले ही हुआ हो परन्तु अधिकतर इन कवियों ने लोक परम्पराओं को ही अपने काव्य का आधार बनाया था।

तत्कालीन लोकगीतों, लोकाख्यानों, कहावतों, पहेलियों, लोकनृत्यों तथा रास लीलाओं की सामग्री भक्त कवियों द्वारा ग्रहण की गई। माता प्रसाद गुप्त ने स्पष्ट किया कि कबीर ने अनेक लोक गीतों को रहस्यवादी रूप देकर ज्यों का त्यों अपना लिया और इस प्रकार उनकी 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' का निर्माण हुआ। कितने ही दोहे 'ढोला मारू दा दूहा' से कबीर ने लिए। संत कवि जनता के कवि थे प्रायः निम्न वर्गों और वर्णों से आए थे। उनके काव्य में लोक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

सूरदास का 'सूरसागर' तो ब्रज-संस्कृति का विश्वकोश ही है। हिन्दू पर्वों, त्यौहारों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों का वर्णन खुलकर किया गया है। गोवर्धन पूजा, गोपियों का कृष्ण संग होली खेलना, रासलीला और पनघट लीला रचाना, दीपोत्सव तथा बसंतोत्सव में पूरे ब्रज प्रदेश का झूम उठना 'सूरसागर' में अंकित है। ब्रज प्रदेश की कहावतों और मुहावरों का भण्डार इसमें है। नन्द, कृष्ण, यशोदा, राधा, गोपियां और ग्वाल बाल सभी का सहज चित्रण हुआ है। गोपियों के संवादों की सहजता लोक संवादों सी है। सूर के दृष्टिकूट पदों में पहेलियों का सा आनन्ददायक मनोरंजन है।

गोस्वामी तुलसीदास भले ही 'निगमागम सम्मत' रामकथा गाते हैं और शास्त्रीय कविता के मानदण्ड माने जाते हैं परन्तु उनका 'रामचरितमानस' भारतीय समाज में जिस तरह से पढ़ा और पूजा जाता है उससे भारतीय समाज में इस ग्रन्थ की स्वीकृति का अनुमान होता है। तुलसीदास ने

लोक परम्परा से सोहर और मंगल काव्य लिए। लोक मंगल के पक्षधर तुलसी ने शास्त्रीय परम्परा को लोक काव्य में प्रतिष्ठित किया।

जायसी ने 'पदमावत' की कथा लोक परम्परा से उठाई और उसे मार्मिक प्रसंगों से भरकर प्रस्तुत किया। विरह की इस बेजोड़ कृति में षड्ऋतुओं का वर्णन भले ही शास्त्रीय परम्परा से लिया हो, बारहमासा वर्णन की परम्परा लोक परम्परा से ली है।

रहीम जैसे कवि ने 'बरवे नायिका भेद' लिखकर दरबारी काव्य में लोक परम्परा से आए बरवे छन्द की छोंक लगाई। रहीम ने साधारण लोगों का चित्रण, साधारण लोगों के छन्द में करके अपनी उदारता का परिचय दिया और लोक परम्परा के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त करने में सफल रहे।

भक्ति आन्दोलन वैदिक परम्परा को चुनौती देने वाली जैन बौद्ध परम्पराओं से शक्ति पाकर उपजा था। वैदिक धर्म के भीतर योग और तंत्रवाद विरोधी धाराओं ने इसे पुष्ट किया। अनेक विदेशी समूहों, निम्न जातियों तथा वैष्णव परम्पराओं के प्रभाव से, एक उदार मानव धर्म के लिए मार्ग प्रशस्त हो रहा था जिसे भक्ति काव्य ने अभिव्यक्ति दी। भक्ति काव्य के अन्तर्गत निर्गुण और सगुण एक दूसरे के पूरक थे विरोधी नहीं। भक्त कवियों की मूलचेतना भक्तिभाव परक की ज्ञानमूलक नहीं अर्थात् लोकमूलक थी शास्त्र मूलक नहीं। वैदिक काल से ही भारतीय समाज जनपदीय संस्कृतियों को प्रश्रय देता आया था जो लोक संस्कृति के विकास में सहायक थी।

8.9.3 रीतिकाल :

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस मध्यकाल को 'जबदी हुई स्तब्ध मानसिकता का काल' कहा है वह रीतिकाल ही है। इस युग का साहित्य राजदरबारों में आश्रय पाकर लोक परम्परा से कट गया। अपनी जीवन शक्ति संस्कृत के प्राचीन अलंकार-ग्रन्थों और नायिका-भेद आदि में खोजने के कारण इस युग का साहित्य सहज भाषा, सहज अभिव्यक्ति और सहज-साधारण विषयों से कट गया। शास्त्रीय परम्परा इस युग के साहित्य पर हावी हो गई। आश्रयदाताओं के दरबार में धन-मान पाने के लिए रची गई कविता में लोकरंजन और लोकमंगल की अपेक्षा स्वामी रंजन और स्वार्थ पूर्ति की भावना हावी रही। कवि राजगुरु बनने की होड़ में कविता को शब्दों की बाजीगरी बनाकर पेश करते रहे। केशव जैसे पंडित कवि संस्कृत भाषा के ही नहीं सामन्तवादी प्रवृत्ति के भी पोषक बने और शायद इस बात पर पछताते रहे कि 'जिनके घर के नौकर संस्कृत में बात करते थे उन्हें जनभाषा

में कविता करनी पड़ी।' लोक या सामान्य के प्रति सहज वितृष्णा रीतिकाल की विशेषता है इसीलिए इस युग के साहित्य को आम आदमी नहीं अपना सका। कविता बोलचाल से हटकर काव्यशास्त्रीय विनोद का रूप धारण कर गई। बिहारी, देव, घनानन्द, पद्‌माकर, भिखारीदास आदि कवियों ने जो दोहे, कवित्त, सवैये लिखे उनमें लोकजीवन की झांकी नहीं थी, शास्त्रीय परम्परा का पिष्टपेषण ही प्रमुख था। ग्रामीण जीवन की सरलता को उपेक्षा और तिरस्कार के साथ देखने वाले ये कवि अपने को आचार्य सिद्ध करने के लिए शास्त्रों से जोड़ना चाहते थे जनता से नहीं। नगर–जीवन के प्रेमी इन कवियों ने लोकगीतों या लोकजीवन से प्रेरणा नहीं ली शायद इसीलिए यह काव्य दीर्घजीवी भी नहीं हुआ।

8.9.4 आधुनिक हिन्दी साहित्य :

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। अंग्रेजों के सम्पर्क से नवीन ज्ञान–विज्ञान से जुड़ने वाला भारतीय समाज एकाएक आन्दोलित हो उठा। 1857 की क्रान्ति की विफलता ने नवजागरण और पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। नयी शिक्षा के प्रकाश में उभरने वाला मध्य वर्ग भले ही ग्रामीण संस्कारों को लेकर आया था परन्तु औद्योगिकरण, शहरीकरण, प्रजातांत्रिक विचारों, समाज सुधार और स्वदेशी आन्दोलनों से प्रेरित होकर प्रगतिशील भूमिका निभाने लगा और राजनैतिक सांस्कृतिक आन्दोलनों की धुरी बन गया।

भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन आदि कवि लोकगीतों से परिचित थे और लोक से जुड़ने की बलवती इच्छा लेकर साहित्य–रचना में प्रवृत्त हुए थे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का काव्य, गद्य तथा भाषा–शिल्प कहां तक लोकधारा से प्रभावित हुआ है इस पर विचार करना आवश्यक है।

काव्य :

भारतेन्दु ने अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में 1879 में लोकगीतों के सामाजिक महत्त्व को दर्शाते हुए लिखा था, ''जहां कहीं ऐसे (लोकगीत) गीत सुनें, उनका अभिनन्दन करें। इस हेतु गीत बहुत छोटे–छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, सांझी, लम्बे, लावनी, जाँते के गीत, विरह चलैनी, गजल, इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो और सब देशों की भाषाओं

में इसी प्रकार हो। अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुंदेली, बिहार में बिहारी, ऐसे देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो, उसी भाषा में ये गीत बने।'' भारतेन्दु जिस तरह के लोक हितकारी साहित्य का सृजन करना चाहते थे उसका भाषा शिल्प 'लोक साहित्य' से लिया जाए तो अच्छा रहेगा, ऐसा उनका मानना था। स्वयं भारतेन्दु ने बत्तीस कजलियाँ बनारसी पद्धति में लिखीं। ये स्त्रियों या पुरुषों द्वारा अलग-अलग गाई जा सकती हैं। भारतेन्दु बाल विवाह, भ्रूण-हत्या विरोध, बालकों की शिक्षा, फूट और बैर जैसे विषयों पर लिखने का भी आग्रह करते थे। भारतेन्दु ने समाज सुधार और राजनैतिक आन्दोलनों से कविता को जोड़ने की राह दिखाई और उसे संप्रेषणीय बनाने के लिए 'लोक साहित्य' के शिल्प को अपनाने की सलाह भी दी।

राष्ट्रीय आन्दोलन की छाया में चलने वाले छायावादी काव्य ने लोकगीतों की शैलियों और छन्दों को अपनाने की पहल की। प्रगतिवादी कवि ग्रामीणों और मजदूरों का चित्रण करते हुए जनभाषा के निकट जाने का प्रयास करता दिखाई पड़ा।

निराला ने कजली धुन को अपना कर 'काले काले बादल आए न आए, वीर जवाहर' जैसी प्रगतिवादी कविता रची। पंत ने स्थानीय शब्दों का प्रयोग 'अतिमा' में किया है। केदारनाथ अग्रवाल, शिव मंगल सिंह सुमन, नागार्जुन आदि की कविताओं पर आंचलिक प्रभाव है। प्रयोगवादी कविताओं में लोक तत्त्व प्राय: नहीं है। अज्ञेय के 'आंगन के पार द्वार' में कुछ रचनाओं पर प्रभाव देखा जा सकता है।

समकालीन गीतकारों शम्भुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, श्रीपाल सिंह क्षेम, रमानाथ अवस्थी, भवानी प्रसाद मिश्र, नागार्जुन, ठाकुर प्रसाद सिंह आदि ने अपने गीतों में लोक धुनों को अपनाया है। डॉ० शिवकुमार मिश्र के अनुसार-''इन कवियों ने न केवल ग्रामों की धरती, प्रकृति अथवा निवासियों को ही अपने गीतों में उतारा, वरन् लोक और ग्राम गीतों की लयों, धुनों तथा भाषा आदि को भी पूरे उत्साह से ग्रहण कर अपने गीतों को नया कलेवर प्रदान किया, उनमें नये संगीत की सृष्टि की, उन्हें नए साँचे में ढाला। इस कार्य से निश्चित रूप से ही उनके काव्य का सौन्दर्य बढ़ा और वे जनता के बीच लोकप्रिय भी हुए।''

गद्य साहित्य :

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में लोक तत्त्वों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ। राहुल सांकृत्यायन जनपदीय संस्कृति की रक्षा के पक्षधर थे। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में बुंदेली लोक संस्कृति

जीवित है। 'गढकुन्डार' से 'कचनार' तक उन्होंने जितने भी उपन्यास लिखे उनमें स्थानीय जनजीवन और जनभाषा का मुक्त प्रयोग हुआ है।

सन् 1954 में 'रेणु' का 'मैला आंचल' आया और बाद में 'परती परिकथा' के माध्यम से आंचलिक उपन्यासों का विशुद्ध रूप सामने आया। नागार्जुन ने इस धारा को पुष्ट किया। शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी आदि लेखकों ने अपने कथा साहित्य में लोक तत्त्वों को जगह दी।

साहित्यिक हिन्दी भाषा में लोकभाषा की शब्दावली का प्रयोग आधुनिक साहित्यकार दो प्रकार से कर पाए हैं–एक तो लोकभाषा की सहज सरसता को रूपान्तरित करके अपनी भाषा में ढाल कर दूसरे उसके बोलीगत रूप को ही कतिपय व्याकरणिक संशोंधनों के साथ यथावत् प्रयोग करके। वृन्दावन लाल ने बुन्देली, शिवपूजन सहाय ने बिहारी, रामनरेश त्रिपाठी ने अवधी, रामदरश मिश्र ने भोजपुरी से और शैलेश मटियानी ने कुमाऊंनी से शब्द भण्डार लेकर हिन्दी में प्रयुक्त किया। आज हिन्दी में भाषा और शिल्प के स्तर पर ही नहीं कथानक और कथ्य के स्तर पर भी 'लोक साहित्य' से बहुत कुछ लिया जा रहा है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास इस दिशा में महत्त्वपूर्ण हैं।

शोध-कार्य :

आज हमारा युग विश्वग्राम और भूमण्डीलकरण की दिशा में बढ़ रहा है। मॉस कल्चर के प्रभाव से स्थानीय, आँचलिक संस्कृतियों और लोक-साहित्य का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में आंचलिक लोक-साहित्य के संग्रह और विवेचन-विश्लेषण की प्रवृत्ति भी इसके विलुप्त हो जाने के भय से बढ़ी है। रामनरेश त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी ने प्रारम्भिक लोक साहित्य-संग्रह का कार्य किया। पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने परिनिष्ठित हिन्दी साहित्य को विश्लेषित करने के लिए 'लोक साहित्य' की समझ पर बल दिया। 'पृथ्वीराज रासो' जैसे ग्रंथों की लोकतात्विक निर्माण भूमि को स्पष्ट किया। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक उनकी कृति लोकतत्त्वों की पहचान की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० सत्येन्द्र ने मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में प्रेमगाथा और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता तत्वों का उद्घाटन किया। उनके अनुसार रीतियुग तक हिन्दी साहित्य में लोकतत्त्व प्रबल रहा। डॉ० शम्भुनाथ सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, रामगोपाल गोयल, त्रिलोचन पाण्डेय जैसे अनेक विद्वानों ने मध्यकालीन

हिन्दी साहित्य और लोक तत्त्वों की भूमिका पर शोध कार्य किया। भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में आंचलिक 'लोक साहित्य' का सामाजिक सांस्कृतिक विश्लेषण किया जा रहा है। भाषिक स्तर पर भी 'लोक साहित्य' का विश्लेषण–विवेचन हो रहा है।

'लोक साहित्य', राष्ट्रीय एकता का बोध कराता है क्योंकि विभिन्न बोलियों में लिखा गया, ऊपरी तौर पर विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में रचा गया 'लोक साहित्य' भारत की आत्मा को, उसकी बहुलता और बहुविधता में दर्शाता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख आ चुका है कि सभी जनपदों के लोक–साहित्य की मूल भावधारा एक ही है। एक–सी लोक संस्कृति जनपदों के 'लोक साहित्य' में अभिव्यक्ति मिलती है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों के पीछे लोक परम्पराओं की लम्बी विरासत झाँकती है।

'लोक साहित्य' में सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री सुरक्षित रहती है। ''संस्कृति के भग्नावशेषों के अधार पर, जो 'लोक–साहित्य' में छिपे रहते हैं, सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।''

8.10 सारांश

अत: स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य की प्राणधारा यह 'लोक साहित्य' ही रहा है जिसे समझे बिना हिन्दी साहित्य की समझ अधूरी ही रहेगी। 'लोक साहित्य' ने हिन्दी साहित्य को विषय और शिल्प दोनों दिए और दिया वह सांस्कृतिक परिवेश जिसमें वह पनप सका।

8.11 कठिन शब्द

1. कालान्तर	2. लोकतात्विक
3. चेतन	4. अवचेतन
5. प्रक्रिया	6. विश्लेषण
7. जटिलता	8. मनोविश्लेषण
9. अवस्थित	10. अर्द्धचेतन
11. सामूहिक	12. विघटन

13. निरपेक्ष
14. परिवर्द्धन
15. लोकरंजन
16. लोक रक्षण

8.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरापेक्षी

1. हिन्दी साहित्य के आदिकाल को लोक साहित्य ने किस तरह प्रभावित किया है?

----

2. हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को लोक साहित्य की देन क्या है।

----

3. आधुनिक हिन्दी कविता में लोक-तत्वों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरापेक्षी

1. आदिकाल के साहित्यिक विकास में लोक साहित्य की भूमिका पर प्रकाश डालें?

----

2. 'लोक साहित्य' की भक्ति काल की साहित्यक प्रवृत्तियों के विकास में क्या भूमिका रही है ?

----

3. 'गद्य साहित्य' में लोक साहित्य की छाप रही है। युक्ति युक्त उत्तर दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राबर्ट रेडक्लिफ की दो पुस्तकों के क्या नाम हैं?

----

2. लोक साहित्य मूलतः किन भाषाओं में रचा जाता है।

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य – चन्द्रबली सिंह
2. लोक साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग
3. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग – डॉ. श्रीराम शर्मा
4. लोक साहित्य में प्रतिमान – डॉ. कुन्दन लाल उप्रेती
5. लोक साहित्य विज्ञान – डॉ. सत्येन्द्र

डोगरी लोक गीतों में शृंगार चित्रण

रूपरेखा

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 डोगरी लोक गीतों में शृंगार चित्रण

9.4 सारांश

9.5 कठिन शब्दों के अर्थ

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

9.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख में डोगरी लोक गीतों में शृंगार चित्रण पर बात की जाएगी।
- शृंगार रस के मूलतः दो पक्ष हैं संयोग और वियोग, इस बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- डोगरी लोक गीतों में व्यक्त दाम्पत्य शृंगार और स्वच्छंद शृंगार को समझ सकेंगे।

9.2 प्रस्तावना

नर मादा के बीच सहज आकर्षण रहता है। इस नैसर्गिक आकर्षण के कारण वे परस्पर मिलते हैं और सृष्टि के विकास में अपना योगदान देते हैं, अपनी संतानें पैदा करते हैं और परिवार तथा समाज जैसी सामाजिक संस्थाओं के जन्मदाता बनते हैं। प्रकृति के सजीव भिन्न लिंगी प्राणियों की इस नैसर्गिक वृत्ति के कारण ही उनमें मनोविकार पैदा होते हैं, उनका मन:स्थल क्षुब्ध होता है, शरीर रोमांचित होता है, मस्तिष्क में उथल-पुथल होती है। इस सारे मनोविकार का कारण प्राणियों के हृदय में स्थित स्थायी भाव 'रति' है जो क्षुब्ध होकर शृंगार रस के रूप में निष्पन्न होता है।

9.3 डोगरी लोकगीतों में शृंगार चित्रण

श्रृंगार रस के मूलतः दो पक्ष हैं संयोग और वियोग। प्रकृति का परिवेश पाकर नर मादा के मन में सुप्त स्थायी भाव विभाव, अनुभाव आदि के सम्पर्क में आकर संचरित हो उठते हैं और उनके मन रस दशा में पहुंचते हैं। आदि काल से ही स्त्री और पुरुष के हृदय की यह सहज वृत्ति काव्य और साहित्य का विषय बनी रही है। डोगरी लोक गीतों में भी इस वृत्ति का चित्रण हुआ है। डोगरी लोक गीतों में श्रृंगार के दो रूप– दाम्पत्य श्रृंगार और स्वच्छंद श्रृंगार मिलते हैं। इन दोनों श्रृंगार रूपों के संयोग और वियोग पक्ष भी मिलते हैं। जिनके चित्रण का वर्णन निम्नलिखित है –

9.3.1 दाम्पत्य श्रृंगार :– पति–पत्नी के बीच का आकर्षण समाज स्वीकृत प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रेम में स्थिरता के साथ–साथ जिम्मेवारी का भाव रहता है। पति–पत्नी दोनों ही परस्पर समर्पित और निष्ठावान होते हैं, उन्हें कोई अन्य नर या मादा आकर्षित बेशक करे परन्तु वे उस आकर्षण को नकार कर अपने जीवन साथी के प्रति वफादार बने रहते हैं। डोगरी लोकगीतों में ऐसे दाम्पत्य श्रृंगार का अनेक गीतों में चित्रण हुआ है।

इन लोक गीतों में पति–पत्नी के परस्पर आकर्षण, समर्पण, निष्ठा, वफादारी का चित्रण तो हुआ ही है उनमें हंसी–ठिठोली और रूठ–मनोवल का चित्रण भी हुआ है। यहां पत्नी रूठती है तो पति उसे मना लेता है, पति रूठता है तो पत्नी उसे मना लेती है। इससे दोनों की परस्पर निष्ठा की परीक्षा भी हो जाती है और उनका प्रेम पक्का भी होता रहता है। अधिकतर संयोग चित्रण के दौरान दोनों की इस हंसी–ठिठोली का वर्णन हुआ है और उनके आकर्षण के निमित्त नखशिख के सौंदर्य का वर्णन भी हुआ है। जैसे :–

सोहने तेरे दंद गोरिए,
हस्सने बिना नईं रौहन्दे

इसी लोक गीत में लोकगीतकार गोरी के हाथों, पैरों और नयनों के सौंदर्य का वर्णन करता है और इस सौंदर्य की विशेषता यह है कि यह जीवित, हंसता, खेलता, चलता, ताकता चंचल सौंदर्य है। लोक गीतकार ने नारी के आकर्षण का ही नहीं पुरुष के आकर्षण का भी वर्णन किया है –

चिट्टे तेरे दंद सोब्बन
मस्सिएं दे नाल, परदेसिया।

इस परदेसी की आंखों में लालिमा है, गहराई है, काजल ने उनके सौंदर्य को और अधिक बढ़ा दिया है। उसने केसरी साफा सिर पर बांध रखा है, पतली कमर पर ढाल और तलवार सुशोभित है और वह घुड़सवार सैनिक नायिका पत्नी के पास न रहकर परदेस में रहता हुआ भी उसे आकर्षित

कर रहा है।

जब बादल बरसता है तो मिलन सुख की आकांक्षा करती हुई पत्नी प्राकृतिक सौंदर्य में खो गए पति को ढूंढ़ती है, उसे नादान और 'ज्याणा' समझती है जो उसकी मिलन आकांक्षा को समझता नहीं या जानबूझ कर रूठा हुआ है जबकि वह उसके लिए सुहाग शय्या बिछा रही है मच्छरदानी तान रही है। ऐसा भी माना जा सकता है कि वह अपनी अंगिया की तनियां कस कर अपनी उफनती वासना और मिलन आकांक्षा को नियंत्रित रखने का यत्न कर रही है और जब मूसलाधार बारिश हो जाती है उसे भीगे तन, मन और वस्त्रों को सुखाने के लिए जगह नहीं मिल रही। पति भी मानो रूठी हुई, नजाकत और नखरों वाली, सोने का बहाने किए हुई पत्नी को जगाता है। पति किवाड़ों के तालों को खोलने के लिए कहता है तो वह कह उठती है :-

ए लौ कुंजियां आपूं खोलो,
दिलै दियां घुण्डियां बसार।

और पति को सभी भेदभाव भूल जाने के लिए कहती है।

वह शरद रातों में पति के प्रति मिलन आकांक्षा को रोक नहीं पाती। वासना के नाग उसके हृदय में फुंकार उठते हैं और वह सूनी सेज को सजाने के लिए कलियां चुनने लगती है। वासना के इस आवेग में वह किसी प्रकार के अवरोध को नहीं झेल पाती। पति की नादानी को भी नहीं बख्शती और उसे घर आते हुए रोक लेने वाली किसी परकीया को भी नहीं बख्शती, ऐसी औरत को तो वह श्राप तक देने के लिए तत्पर दिखती है। ऐसी तीव्र मिलनाकांक्षा लोकगीतों में ही मिलती है।

वह पति से मिलनाकांक्षा में तड़पती भी है और पति से मान भी करती है। मिलनाकांक्षा के कारण ही वह चूड़ियां पहनती है और चरखा कातती है परन्तु जब उसकी सास उसके पति को बहका देती है तो वह पति से रूठ कर मायके चली जाती है और जब वह स्वयं ससुराल आकर उसे मनाता है, पाँच रुपये देकर नई चूड़ियां चढ़वाने के लिए कहता है, तभी मानती है और पति के साथ लौटती है।

पति पत्नी में हंसी-ठिठोली भी चलती रहती है। पत्नी पति के रसिक स्वभाव को समझती है और उस पर व्यंग्य भी कसती है :-

"हस्सी हस्सी पुच्छै रानी राजे कोला बात बो,
कुत्थैं गुजारी राजा कल्लै वाली रात बो ?"

वह बरसों बाद घर लौटे और रूठकर घर के पिछवाड़े जाकर सोने का बहाना कर रहे कुमेदान (फौजी-ओहदा) पति पर व्यंग्य करती है :-

''बारैं बरसैं कुमेदान घर आया
रुस्सी सुत्ता पछवाड़।''

वह अनमेल विवाह पर भी व्यंग्य करती है :-

''होरनै फड़ियां न रफल दुनालियां
मेरे बुड्डे नै फड़ी लेया डण्डा''

बुड्डड़ा बो गल पेया स्हेलड़ी बुड्डड़ा।

वह ऐसे पति पर भी व्यंग्य करती है जो वैरागी की तरह घर से परे-परे रहता है जबकि उसकी पत्नी रोमांटिक वातावरण में आशंकाओं से घिरी रहती है:-

''चार चफेरै बिजली कड़कै
पैंछी पांदे शोर।
साधैं होश निं बिन्द घरै दी
राखियां करदे चोर''

परन्तु डोगरी लोकगीतों के सारे पति ऐसे ही वैरागी नहीं हैं, वे रूठते हैं तो मनाते भी हैं, पल्ले से पैसे खर्च करके मनाते हैं। पत्नी मायके चली जाती है तो वे कभी पुरोहित बनकर, कभी पालकी की पट्टी का 'सुसरू' बन कर, कभी बाज बन कर पत्नी का पीछा करते हैं और उन्हें पूछते हैं कि वह क्यों रूठ रही है उसे ऐसा क्या कह दिया है? अच्छा खाती-पीती भी वह घुरकती क्यों है?

चंगा चोखा तूं खन्नी ऐं, लान्नी ऐं
फिरी बी तूं मिकी कैं घुरकानी ऐं।
तेरे जनेह्ई मैं कोई निं दिक्खी
नखरेबाज जनानी ऐं।

वह पत्नी से मार भी खाता है चकले बेलने से भी पिटता है, मुंह काला भी करवाता है, दोस्तों के बीच शर्मिंदा भी होता है पर कुंआरा नहीं रहना चाहता और जब ''मिगी परती करी गेई कोआरा'' वह उसे छोड़ मायके चली जाती है तो पति उसके लिए बालियां बनवाता है, कंगन

बनवाता है, कड़ियां बनवाता है जबकि पत्नी की आंखें भी पति से मिलने की आकांक्षा में तरस रही हैं –

> ''कोई नैन बंदी दे रोंदे नी।
> कोई रोई रोई पछोतांदे नी।''

इस तरह डोगरी लोक गीतों में पति-पत्नी के बीच के दाम्पत्य शृंगार में यह हंसी-ठिठोली चलती रहती है, वे परस्पर रूठते और मनाते रहते हैं और दाम्पत्य का सुख-दुःख साथ-साथ झेल जाते हैं।

दाम्पत्य शृंगार का वियोग पक्ष संयोग पक्ष की अपेक्षा अधिक भाव विह्वलता से भरा हुआ है। पति की अपेक्षा पत्नी का हृदय विरह की पीड़ा से अधिक सिक्त है। घर के कामकाज में जुटी रहकर भी वह पति के वियोग को झेल नहीं पाती और बार-बार पति को उसकी जिम्मेदारियों की याद दिलाती है और स्वयं को अरक्षित समझती है, वह अतृप्त है और प्रेम-परिपक्व समर्पण के लिए तत्पर दिखती है। विरह पीड़ित पत्नी पति को उलाहने देती है कि वय बीत रही है, यौवन पानी की बाढ़ की तरह आकर चला जा रहा है, इस बाढ़ में सहारा देने वाला तैराक पास नहीं, यदि पता होता कि उसने छोटी आयु में उसे अकेले छोड़ कर चले जाना है तो वह कुछ और करती –

> ''जे तुसें चली जानां/
> कदें नईं मलांदी/ अंग ओ सज्जना,
> जे भोली बरेसा/ तुसें टुरी जाना/
> ते चलदी मैं तेरे/ संग बो सज्जना?''

विरह से पीड़ित पत्नी के हृदय में अनेक प्रकार की वासनाएं जागृत हो रही हैं। वासनाओं के नाग उसे काट रहे हैं, जहर चढ़ रहा है परन्तु इन वासनाओं को शांत करने का साधन उसका पति उसके निकट नहीं है।

> ''कुन करै कारियां/ते कुन पुट्टै जड़ी ओ।
> कैंत करै कारियां/ते कैंत पुट्टै जड़ी ओ।''
> डंगी खादा जान मेरी/अउं गेइयां मरी ओ।

पति-पत्नी के बीच के प्रेम-व्यापार में गोपनीयता भी रहती है। पत्नी पति के व्यवहार को

जग जाहिर नहीं करती परन्तु विरह के क्षणों में इस गोपन वृत्ति के कारण भी दुखी होती है –

अज्ज दिलै दियां सारां कुन जानै।
ओ डूंगियां पीड़ां कुन जानै।
ए डूंगियां पीड़ां रौह्ल जानै। ओ सुन्ने दी सार सुनयार जानै।

स्थिति यह है उसने पति के नेह में आंगन में चंबा (चम्पा) और मरुआ लगाया है परन्तु विरह के दिनों में पूरब की ओर से बहने वाली शीतल हवा भी क्रूर प्रतीत हो रही है। इस क्रूर हवा में चंबा सूख गया है, मरुआ कुम्हला गया है। और वह विरह की पीड़ा में रो-रो कर इन पौधों को सींच रही है-

डाढ़ी ब्हा पूरे दी/ओ खूनी ब्हा पूरे दी
नैंनें दा दिन्नियां पानी/खूनी नैंनें दा पानी
चंबा उस्सरी आया/ओ मरुआ उस्सरी आया।

पति की विरह में वह अपनी ननद को अपने दिल का हाल सुनाती है और कहती है कि उसका मन उसके नियंत्रण में नहीं, वह उन स्थानों पर डोलता फिरता रहता है जहां-जहां वह पति के साथ गई है। वह बावली-सी हो गई है ऐसे उन्माद की स्थिति में वह कभी बैठी-बैठी हंसने लगती है तो कभी सोई-सोई भागने लगती है –

''कदें बैठी दी हस्सां, कदें सुत्ती दी नस्सां,
मार उडारी जन्दा,
में के करां ननानें जोबन होड़या निं रौंदा।''

वियोग के क्षणों में उसे सब कुछ सूना-सूना मुरझाया प्रतीत होता है। फूलों के हार टंगे-टंगे कुम्हला रहे हैं, गन्ने बेल्ले में पड़े कुम्हला और सूख गए हैं, तूत डालियों पर कुम्हला गए हैं। चैत्र का बसंती महीना है परन्तु पति पास नहीं है, फूल भी कांटों की तरह चुभ रहे हैं। सावन महीने में साजन के बिना दिल नहीं लग रहा है, पत्नी-पति को घर लौटने के लिए टैलीग्राम भेजती है-

''मिलनां तां मिल सज्जना,
मेरी जान चली संसारा,''

और एक अन्य विरहिन पत्नी राह-चलते सिपाही के हाथों अपने पति को संदेशा भेजती है कि कनक पक रही है, वह घर आए और कनक और उसे संभाले –

''कनक पक्की घर आयां लोभियां।
पक्की पक्की जायां बड्डी लोभिया,
सैलिया गी देई जायां झल्ल लोभिया''

इस तरह पत्नी पकी हुई आकांक्षाओं और अपने असुरक्षित यौवन का उसे स्मरण करा रही है। परन्तु यहां कई पति तो ऊंचे लम्बे सिम्बल के दरख्त की तरह आकर्षक हैं परन्तु पत्नियों के निकट नहीं हैं। ऐसा पति ऐसा सिम्बल का दरख्त है जिसमें लाल-लाल आकर्षक फूल हैं परन्तु उन फूलों में कोई खुशबू नहीं, उसके फलों में स्वाद नहीं। पति का ऊंचा लम्बा शरीर, आकर्षक सौंदर्य विरहन को लुभाता है परन्तु वह उससे बहुत दूर है जबकि निकट आने का इंतजार पता नहीं कब खत्म होना है-

''नईं ऐ फलें च/स्वाद तेरे कोई/
नईं ऐ फुल्लै बिच/ बास॥
अहें कैन्त गया दा/नौकरी/कदूं मुक्कनी/
ए लम्मी/ आस॥''

बरखा लगी है, पहाड़ों की तलहटियों में पाला पड़ रहा है, शीत से शरीर कांप रहा है। मन में अनेक प्रकार की चिंताओं और सोचों के उलझाव पड़े हैं। चार चफेरे बादल घिर रहे हैं और ऐसी स्थिति में उसका मन पति को पुकार रहा है।

''बदलुएं कोला बी उच्चा होई होई/ मन, तुकी देया
द आले/ तेरे सोह्/ मन तुकी देया द आले/
ओ लोभिया चंबे देया।''

पत्नी चाहती है कि उसका पति छैल-छबीला सजा रहे। उसके जीवन में सुख-सुविधाओं की बारिश होती रहे। वह अपने सिपाही पति की उन्नति की कामना करती है और चाहती है कि उसका पति भी ओहदेदारों की तरह पक्की बैरकों में रहे, साफ ठंडा पानी पिए, शिखर दुपहर में किसी ओहदेदार के कमान के तहत परेड करने की अपेक्षा स्वयं परेड कराए, नहीं तो नौकरी छोड़ आए -

''नाम कटाई घरै आई जा .. ओ।
होरनें सपाइयें दे चिट्टे चिट्टे कपड़े,
तूं कज्जो कीता मैला भेस, ओ सपाइया।''

'चन्न' शीर्षक लोक गीतों में तो विरह जनित पीड़ा और मिलनाकांक्षा की तीव्रता का बड़ा ही घनीभूत चित्रण किया गया है। पत्नी दोनों के मिलन के बीच पहाड़ों, टिब्बों आदि के व्यवधान को नहीं आने देना चाहती बल्कि चुम्बन के आड़े अपनी नत्थ को भी नहीं आने देने के लिए तैयार है-

"चन्न म्हाड़ा चढ़ेआ लग्गा पारै किंग्गरी।
चन्ना गी बो प्यार देना नत्थ करिये खिंगरी।
मुक्कना बसोस मेरी जान बो/ मिलना जरूर मेरी जान बो।"

और वह कांटेदार कीकर के पीछे से उभर रहे चन्द्र के प्रति संवेदनशील हो उठती है। उसका अपना पति प्रियतम भी न जाने कितनी कठिनाइयां, उलझनें और पीड़ाएं झेल रहा होगा और वह सोचती है -"

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया किक्करै दै रुक्ख ओ।
निक्की होंदी मरी जंदी मुक्की जंदे दुःख ओ।
बड़ा ऐ बसोस मेरी जान बो/ मिलना जरूर मेरी जान बो।
जान बो। यह नहीं दुरा

9.3.2 स्वच्छन्द शृंगार

डोगरी लोकगीतों में स्वच्छन्द शृंगार का चित्रण भी हुआ है परन्तु बहुत कम। इस चित्रण में लोक लाज और पारिवारिक, जातिगत और समाजगत मर्यादा के प्रति समर्पण का ध्यान अधिक रखा गया है। हीर रांझा, लैला मजनू जैसे प्रेमी युगल डोगरी लोकगीतों में नहीं हैं। रांझू और फुल्मू का स्वछन्द प्रेम दुखान्त है, परन्तु अधिक भाव विह्वलता नहीं करता। तवी का तारक पुरुष नायिका को बाढ़ ग्रस्त नदी से पार नहीं पहुंचाता बल्कि उसे रात भर अपने साथ रुकने के लिए कहता है। स्वछन्द प्रेम में जो नायकत्व (साहस, वीरता, त्याग, स्वतंत्रता आदि के भाव) चित्रित होता है डोगरी लोकगीतों में उस नायकत्व का अभाव है। कीकर की छाया ठण्डी तो है परन्तु कांटों का डर है; प्रेम सुखद तो है परन्तु कंटीला भी होता ही है -

किक्करिए कण्डियारिए तेरी ठण्डी ठण्डी छां ....

9.4 सारांश -

अतः स्पष्ट है कि डोगरी लोकगीतों में शृंगार के दो रूप मिलतें हैं संयोग और वियोग। डोगरी लोकगीतों में दाम्पत्य शृंगार का अनेक गीतों में चित्रण हुआ है। पति-पत्नी के परस्पर आकर्षण

समर्पण, निष्ठा, वफादारी का चित्रण तो हुआ ही है साथ ही उनकी हंसी–ठिठोली और रूठ–मनोवल का चित्रण भी हुआ है। वियोग पक्ष में भी भाव विह्वलता से भरा हुआ है। पति की अपेक्षा पत्नी का हृदय विरह की पीड़ा से अधिक सिक्त है। भाव विह्वलता है परन्तु अश्लीलता नहीं है दाम्पत्य जीवन की सहज गंभीरता और उत्तरदायित्व की भावना से परिपूर्ण प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है।

9.5 कठिन शब्दों के अर्थ

1. नैसर्गिक	2. क्षुब्ध
3. मनः स्थल	4. मनोविकार
5. भाव	6. विभाव
7. संचरित	8. स्वच्छंद
9. समर्पण	10. आकांक्षा
11. अरक्षित	12. घनीभूत

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. डोगरी लोकगीतों में अभिव्यक्त शृंगार चित्रण पर प्रकाश डालिए।

____

____

____

____

____

____

2. डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त दाम्पत्य शृंगार का चित्रण कीजिए।

____

____

____

____

----

3. स्वच्छन्द श्रृंगार डोगरी लोक गीतों में किस प्रकार आया है? स्पष्ट कीजिए।

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. गीत धरा अम्बर के - डॉ. ओम प्रकाश गुप्त

2. डुग्गर का लोक साहित्य - डॉ. शिव प्रसाद निर्मोही

3. लोक साहित्य - डॉ. सुरेश गौतम

डोगरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण

रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 डोगरी लोक गीतों में प्रकृति चित्रण

10.4 सारांश

10.5 कठिन शब्दों के अर्थ

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

10.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख के अन्तर्गत आप डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त प्रकृति चित्रण को समझ सकेंगे।
- डोगरी लोक गीतों में प्रकृति के कौन-कौन से रूप मिलते हैं जान पाएगें।
- भाव बिम्बों के निर्माण में प्रकृति किस प्रकार सहायक बनती है जान पाएगें।

10.2 प्रस्तावना

प्रकृति के साथ मानव मात्र का आदिम काल से ही सम्बन्ध रहा है। वह प्रकृति की गोद में पला है, प्रकृति की गोद में उसने शरण प्राप्त की है। गुफाओं, पहाड़ी कंदराओं, जंगली वृक्षों पर रहते हुए उसने अपने जीवन की रक्षा की है। वृक्षों के फूलों, फलों, पत्तों, जड़ों, छाल से उसने खुराक हासिल की, शरीर को ढका है, झोंपड़ियां बनाई हैं, सेंकने और खाना पकाने के लिए ईंधन प्राप्त किया है भाव यह कि प्रकृति से उसने जीवन की रक्षा के उपादान भी प्राप्त किए हैं, जीवित रहने के लिए खुराक भी हासिल की है और जीवन जीना भी सीखा है।

आदिम काल से वह प्रकृति से स्वयं को अभिन्न मानता रहा है। आदि मानव तो यह

भी मानता रहा है कि प्रकृति भी उसकी तरह जीवित है, उसकी तरह ही भिन्न क्रियाएं करती है, उसे अपनी तरह की क्रियाएं करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है, उसे प्रेरित करके बारिश करवाई जा सकती है, आंधी लाई जा सकती है, उसकी स्तुति करके मनचाहा उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है। आदि मानव की ऐसी अंधभावना के कारण ही प्रकृति के मानवीकरण और मानव के प्रकृतिकरण आंधी, वर्षा, अग्नि, जल आदि लाने की (देवी देवताओं की शक्तियों का आह्वान) की क्रियाओं का आयोजन किया जाने लगा। इस तरह मानव मन की अमूर्त भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति महत्वपूर्ण साधन बन गई। प्रकृति की समय, स्थान-विशेष और तापमान-विशेष पर होने वाली निश्चित क्रियाओं को प्रकृति के नियमों के रूप में जाना जाने लगा और मानव मात्र के कार्यकलापों को संचलित करने के लिए प्रकृति का उदाहरण दिया जाने लगा।

10.3 डोगरी लोक गीतों में प्रकृति चित्रण

प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों का मानव मन पर प्रभाव पड़ता है, वह प्रकृति के सौम्य रूप से शांत होता है, क्षुब्ध रूप से अशान्त होता है, सुन्दर आकर्षक रूप से वह रोमांचित और उद्दीप्त होता है। प्रकृति से सुरक्षा पाकर वह प्रकृति के प्रति समर्पित होता है, उसकी पूजा करता है। नदी, पहाड़, वृक्ष, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र उसकी पूजा और स्तुति के पात्र बन जाते हैं। क्षुब्ध प्रकृति उसे संतप्त, त्रस्त, दु:खी और अशान्त कर देती है। प्रकृति के प्रलयंकर रूप से वह डरता है और भयभीत होकर उससे क्षमायाचना करता है। व्यक्ति के सद्-असद् आचरण प्रकृति के अनुकूल-प्रतिकूल आचरण के रूप में देखे जाते हैं।

आदिमकाल से ही मानव मात्र अपने मन की अमूर्त भावनाओं को प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के माध्यम से प्रकट करता रहा है। प्राकृतिक क्रिया-कलापों की नकल करते हुए उसने नाटक का विकास किया है, कर्मकाण्ड का विकास किया है, रीति-रिवाज़ों का विकास किया है। प्रकृति के उपकरणों को देखकर उसने अभिव्यक्ति के रूप में चित्र-भाषा का विकास किया है, चित्रकला का विकास किया है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के साथ अपने सम्पर्कों की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रकार की कलाएं विकसित की गई हैं। अभिव्यक्ति की आकांक्षा के रूप में ही भाषा के माध्यम से साहित्य विकसित हुआ है। अत: साहित्य और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध है। ऐसी ही स्थिति लोक साहित्य और प्रकृति के परस्पर सम्बन्धों की है। लोकगीतों में तो प्रकृति का विशेष तीव्र अनुभूतियों से सिक्त चित्रण होता है। यहां प्रकृति के स्थिर चित्रण की अपेक्षा उसके क्रियाशील रूप को महत्व मिलता है।

प्रकृति मानव-मन को न केवल आकर्षित और उद्दीप्त ही करती है उसकी क्रियाओं को उत्प्रेरित

भी करती है और अमूर्त भावनाओं का मूर्तिकरण करने में भी सहायक होती है। डोगरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण के अनेक रूप हैं जिनका वर्णन–विश्लेषण हमारा विषय है। इस विश्लेषण में आगे बढ़ने के पूर्व यह भी कहा जा सकता है कि डोगरी लोकगीतों में प्रकृति के दो रूप मिलते हैं। 1. प्राकृत (नदी, पहाड़) प्रकृति और 2. कृत्रिम (खेती आदि) प्रकृति।

डोगरी लोकगीतों में इन दोनों प्रकार की प्रकृति के चित्रण का अध्ययन निम्नलिखित है –

भावबिम्बों के निर्माण में सहायक प्रकृति

लोकगीतकार ने नायिका के शरीर को सरूए की डाली, मरुए की डाली, बांस की डाली, चम्बे की डाली कहा है और उसकी शारीरिक गंध, शारीरिक लचक और शारीरिक सामंजस्य को निरूपित करने के लिए प्रकृति के वृक्षों और फूलों का सहारा लिया है।

लोक कवि ने नायिका के शारीरिक कटावों की तुलना कीकर की कटावदार फली के साथ की है। रूप साम्य के आधार को अच्छे और नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। बहते हुए पानी के साथ यौवन को बिम्बित किया है –

औंदे ओ जोबनां/ बगदे ओ पानियां।
तरदे ओ तारूआ/ ओ सज्जना।

पानी के बहाव के साथ उछालें मार रहे यौवन का संकुल बिम्ब बढ़िया है।

यहां की नायिकाएं चैत्र महीने में चम्बा और मरुआ उगाती हैं जो पूर्व की ओर से आने वाली क्रूर ठण्डी हवा में कुम्हला जाते हैं, जिन्हें विरहिणी के आंसू सींचते हैं तो वे पुनः उसर जाते हैं।

लोकगीतकार ने फलों के भार से झुक जाने वाले पेड़ों के प्राकृतिक नियम के सहारे व्यक्ति को विनम्रता का पाठ पढ़ाया है और डुग्गर क्षेत्र में होने वाले आम, अंगूर, निम्बु के पेड़ों और फलों के हो रहे व्यापारीकरण पर व्यंग्य किया है। डुग्गर क्षेत्र के बागों में इन फलों के अतिरिक्त शहतूत, अखरोट, तुलसी और पत्तेदार पौधे लगाए जाते हैं और इनका उपयोग भी होता है।

इस क्षेत्र में वर्षा ऋतु बड़ी सुहावनी होती है। वर्षा की बूंदें मोटी बिंदले (माथे की बिंदिया) जैसी होती हैं, काजल जैसी स्याह मूसलाधार बारिश होती है, लिहाफ तलाइयां भीग जाते हैं, (अनार के फूल या अनार के फूलों जैसे सुन्दर लाल गालों वाली नायिका) गुलनार भीग जाती है उसे कपड़े सुखाने के लिए स्थान नहीं मिल रहा –

''मतियां सिज्जियां लेफ तलाइयां,
बहुत जे सिज्जे गुलनार।
कुत्थे सुखा मै लेफ तलाइयां,
कुत्थें सुखामां गुलनार।''

और जब दिन में बारिश होती है और रात को ठण्डी हवा चलती है तो विरहिनी के हृदय में काम-वासनाएं जागृत हो जाती हैं और आते हुए प्रेमी को राह में रोक लेने वाली को तरह-तरह की गालियां देती हुई वह प्रकृति को नहीं भूलती-

''अक्क ते धतूरा, भङ तैरे जम्म बो जा
ओ जोगनें/ तेरे जम्म बो जा।''

विरहिनी का मन पति के साथ प्रकृति के सान्निध्य में बिताए क्षणों को भूल नहीं पाता-

''कदें रावी दे कंडे, कदें दरया दे फेरे
बगुला, बन बन बौन्दा,
में के करां ननाने जोबन होड़्यां निं रौंदा।
कदें कलिएं दे उप्पर कदें फुल्लें दे अन्दर
भौरा बन बन बौन्दा।''

चैत्र महीने फूल खिलते हैं, गन्ना पेरा जाता है, तूत पकते हैं परन्तु विरहिनी को दुःख है कि इनका उपभोग करने वाला उसका रांझा उसके निकट नहीं है, ये सभी प्राकृत उपकरण उद्दीपन का काम करते हैं परन्तु उद्दीपन रस-प्रक्रिया तक नहीं पहुंच पाता। खरैनी का फूल खिलता है, घम्मन का फूल खिलता है, भंवरा फूलों के गिर्द मण्डराता है। नायिका नायक को मण्डराते देख उसकी मनोभावना समझ लेती है परन्तु वह ऐसी कोई सामाजिक भूल नहीं करना चाहती जिससे उन्हें अपमानित होना पड़े -

''फुल्ल खिड़्या, फुल्ल खिड़्या खरैनी
जेड़ियां गल्लां तूं भालनां
उनें गल्लें पत्त नईं रैह्नी
भुल्ली ओ भौरा तेरे साथ
प्रभु जी भुल्ल रहियां।''

सर्द ऋतु में विरहिनी शीत से कांपती है तो मन लगाने के लिए वह चूड़ियां चढ़वाकर चरखा कातने लगती हैं –

''बिच स्यालै अऊं सीतें मरी जन्नियां
स्हाड़ी गली वल आ
ओ बंजारेया? स्हाड़ी गली वल आ।''

सावन महीने वर्षा होती है। तवी में बाढ़ आती है तो नायिका नदी पार करने के लिए नायक को पुकार उठती है। नायक के मन में भी वासनाएं जागृत हो उठती हैं। प्राकृतिक दृश्य और परिवेश ही ऐसा है कि वह संयमित नहीं रह पाता। नायिका की मनःस्थिति भी सावन महीने में ऐसी ही हो उठती है। साजन के बिना उसका मन नहीं लग रहा, वह तार देकर साजन को बुलाती है कि उसके बिना जिंद (जान-प्राण) निकल रही है और सावन महीने आधी रात को चन्द्रमा की तरह पति आ पहुंचता है –

अद्धी रातीं चन्न घरोंदे/ सज्जनें दित्ता आला
ओ सज्जने दित्ता आला/सुत्ती दी आउं
खड़ी-खड़ोती/चन्न चढ़ेया पुन्नेया वाला।

लोक कवि बासमती के झूलते हुए पौधों को देखता है जो उसे आकाश में उड़ते हुए हंसों की पंक्तियां प्रतीत होते हैं। जमीन में जड़ों के कारण बंधे ये पौधे ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो जाल में फंसे हुए हंसों का समूह हो जो बंधन के कारण उड़ न पा रहा हो –

''ए डार हैंसे दा जियां
अल्हड़ फसी गे फाही
जियां गास फिरै मुरगाई, ए बासमती कुन्न राही।''

और जब कनक पक जाती है तो विरहिनी अपने प्रियतम को अपनी पकी हुई वासनाओं और भावनाओं का परिचय देती हुई बुलाती है –

''कनक पक्की घर आयां लोभिया
पक्की पक्की जायां बड्डी लोभिया
सैलिया गी देई जाया झल्ल लोभिया''

इसी तरह वह दूर परदेस से लुभा रहे पति का साम्य ऊंचे सिम्बल के दरखत के साथ जोड़ती है –

उच्चेया/लम्मेया/सिम्बला ओ।
चोटी झुल्लै/अद्ध गास।
नईं ऐ फलें च/स्वाद तेरे कोई
नईं ऐ फुल्लें बिच/ बास॥

और लोकगीतकार कांटेदार कीकर की ठण्डी कंटीली छाया को प्रेम की कंटीली ठण्डी छाया जैसा चित्रित करता है, यह प्रेम मीठा भी है और रुसवा भी करता है –

''कदमें गी रखयो संभाल के
अतरें दी ढकयो बासना
छाती गी धीर बंधा
मैं बारी तेरी ठण्डी ठण्डी छां
किकरिये कण्डयारिये तेरी ठंडी ठंडी छां।''

लोककवि वर्षा में प्रकृति का चित्रण करते हैं –

घिरी घटा घन घोर ठंडियां बूंदां पेइयां।
आए नईं चितचोर ठंडियां बूंदा पेइयां।
बाग–बगीचे बुलबुल बोलै
धारै सुन्दर मोर
गासा गीत पपीहा गांदा
जाड़ै मस्त चकोर/ठंडियां बूंदा पेइयां

कण्डी में वर्षा हो रही है, धारों में पाला पड़ता है, ठण्ड से देह डगडग कांपती है। मन में अनेक प्रकार के विचार उठते हैं, उलझन बढ़ रही है, मन प्रियतम को पुकार रहा है, बादलों से भी ऊंचा उठ–उठ कर पुकार रहा है –

''देह सीत्तै नैं डग डग कंबदी
ते मनै च पवै दे जाले
तेरे सोह/ मने च पवै दे जाले।
ओ लोभिया चंबे देया
चार चफेरे गै छाई गेदे न
बदलू काले काले।''

चन्न लोकगीतों में प्रकृति के सुन्दर बिम्ब देते हुए विरहिणी अपने मन की पीड़ा को व्यक्त करती है। उसे आकाश में चढ़े चन्द्र में अपने प्रियतम की झलक दिखती है। चन्द्रमा पहाड़ की कंदराओं में भी निकल रहा है, कभी टिब्बे की ओट से निकल रहा है, कभी पार कंगूरे पर टिका-सा लगता है, कभी नदी के पार निकलता दिखता है और कभी कीकर के कटीले रुख (वृक्ष) पर चढ़ा प्रतीत होता है। रात में चन्द्र के ये दृश्य सुंदर हैं और नायिका की मनोभावनाओं को अभिव्यDत करते हैं।

नायिका पकी कनक के खेतों में घूम रही है, ऋतु बदल गई है, ग्रीष्म आ गई है और वह पक्खियां बनाकर झुला रही है, लोग उसे बुरी निगाह से देख रहे हैं-

कनकां पक्कियां बे ढोला/ बैरी घूरदे
बे ढोला/तक्कां रक्खियां बे ढोला/कनकां
पक्कियां बे ढोला/प्रीतां लग्गियां बे ढोला।
बलगन अक्खियां बे ढोला।''

देवर के प्रति भाभी का प्रेम पारिवारिक प्रेम का अच्छा उदाहरण है। वह पति को चिट्ठी भेजती है तो देवर को टैलीग्राम भेजती है और जब वह घर आता है और पति अपने भाई की अगवानी नहीं करता तो उसे पति का व्यवहार अच्छा नहीं लगता है परन्तु वह स्वयं देवर को बड़े प्रेम और चाव से खाना खिलाती है, घर में आचार नहीं है तो वह बाजार से खरीद कर लाती है -

''कदें कदें देर घरै गी आया मंगदा निंबुए दा चार,
निंबुएं दा चार इत्थे थोंदा नेईं ऐ, जन्नियां हट्ट बजार।

देवर भाभी का यह पारिवारिक रिश्ता परस्पर सौहार्द्र वाला है, देवर के प्रति भाभी का प्रेम कहीं मातृत्व भाव से भरा है तो कहीं सखी भाव से। इस भाव के अन्तर्गत वह उससे हंसी-ठिठोली भी करती है, ताने उलाहने भी देती है और कभी-कभी उसके रूप को देखकर पति के प्रति उद्दीप्त भी हो उठती है। उसे वासनाओं का सांप डसता तो कैंत का स्मरण और भी तीव्र हो उठता है।

देवर के भिन्न लिंगी आकर्षण को संयमित रखने में भाभी उसकी मदद करती है। परिवार की ओर से भी उनमें हल्की-फुल्की छेड़छाड़ की छूट रहती है। देवर भाभी के सान्निध्य का वर्णन डोगरी लोकगीतों में हुआ है-

''निक्का देर झूटे दिंदा
लोक जंदे सड़ी ओ।

ढक्की चढ़दे सप्प लड़या
बिस्स जंदी चढ़ी ओ
कुन करै कारियां
ते कुन पुट्टे जड़ी ओ
कैंत करै कारियां
ते कैंत पुट्टे जड़ी ओ।''

ग्रामीण लोक समाज में सामाजिक रिश्ते भी देवर भाभी के रिश्ते जैसे होते हैं। गांव समाज की बहु अपने पति से छोटे गांव-समाज के युवकों की भाभी कहलाती है और युवक उसके देवर। सम्बोधन के साथ यह रिश्ता सामाजिक सम्बंध को सुदृढ़ता भी प्रदान करता है। इस रिश्ते में जातिगत भेदभाव भी भुला दिया जाता है बस परस्पर सहृदयता, सद्व्यवहार और सुख-दु:ख में सहानुभूति का आदान-प्रदान तथा परस्पर सम्मान के रूप में यह रिश्ता बड़ा मीठा माना जाता है।

डोगरी लोकगीतों में इस रिश्ते का बड़ा सुंदर चित्रण हुआ है। ग्रामीण राजपूत देवर का गुजरेटी भाभी से अच्छा जोड़ बैठा है। भाभी उसकी आसक्ति को समझती है और उससे भरपूर काम लेती है। अखरोट के छिलकों का बीड़ा मंगवाती है, पति को लिखने के लिए कोरा खत मंगवाती है, कलकत्ते जा रहे देवर से अपने लिए साड़ी मंगवाती है। दोनों की जोड़ी अजब है-

''अऊं बागें लुआन्नी अखरोट
चिट्टे दंद गुलाबी ओठ
बीड़ी मंगाई देयां ओ द्योरा।
द्योरा ओ मेरेया लोभिया॥''

10.4 सारांश

अत: स्पष्ट है प्रकृति के साथ मानव मात्र का आदिम काल से सम्बन्ध रहा है। वह प्रकृति की गोद में पला है, प्रकृति की गोद में उसने शरण प्राप्त की है तभी तो प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों का मानव मन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। डोगरी लोकगीतों में प्रकृति में दो रूप मिलते हैं-प्राकृत प्रकृति और कृत्रिम प्रकृति।

10.5 कठिन शब्दों के अर्थ

1. आदिम	2. अभिन्न
3. रोमांचित	4. मानवीकरण
5. आह्वान	6. प्रलयंकर
7. उपकरण	8. विनम्रता

9. उद्यीपन　　　　　　10. सौहार्द

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त प्रकृति चित्रण पर प्रकाश डालें।

----

2. डोगरी लोक गीतों में प्रकृति के किन दो रूपों का चित्रण हुआ है प्रकाश डालिए।

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. गीत धरा अम्बर के - डॉ. ओम प्रकाश गुप्त
2. डुग्गर का लोक साहित्य - डॉ. शिव निर्मोही
3. भारत का लोक साहित्य - कृष्ण देव उपाध्याय
4. लोक साहित्य - डॉ. सुरेश गौतम

डोगरी लोकगीतों में सामाजिक जीवन का चित्रण

रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 डोगरी लोकगीतों में सामाजिक चित्रण

11.4 सारांश

11.5 कठिन शब्दों के अर्थ

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

11.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख में आप डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन को समझ सकेंगे।
- आप जान पाएगें कि डोगरी लोक गीतों में पारिवारिक जीवन, जातिगत जीवन, सामूहिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक जीवन, लैंगिक जीवन किस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है।

11.2 प्रस्तावना

परिवार समाज की पहली इकाई है और व्यक्ति परिवार की। इस तरह व्यक्ति परिवार द्वारा नियंत्रित रहता है और परिवार समाज द्वारा। व्यक्ति के नियंत्रण के लिए परिवार ने अनेक प्रकार की पारिवारिक मर्यादाएं निर्धारित की होती हैं, जिन के बीच व्यक्ति को परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग करते हुए जीवन-यापन करना होता है और जीवन सम्बंधी सुख-सुविधाओं को भोगना होता है। परिवार व्यक्ति की सुरक्षा करता है और बदले में वह पारिवारिक नियमों, परम्पराओं, रीतिरिवाज़ों का पालन करता हुआ पारिवारिक सदस्यों में परस्पर सौहार्द, प्रेम, त्याग, करुणा, सहयोग, पोषण आदि के कर्त्तव्य का निर्वाह करता है।

अनेक परिवारों की इकाइयां जब परस्पर सहयोग करती हैं, समान जीवन-उद्देश्यों के लिए

कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन-यापन करती हैं तो उनके समूह को गोत्र, कबीला, उपजाति, जाति, वर्ग, समाज आदि नाम से अभिहित किया जाता है। एक ही माता-पिता की संतानों के परस्पर सहयोगी जीवन से परिवार और रक्त सम्बन्धी शुद्धता को बनाए रखकर यही परिवार, कबीले और गोत्र उपजाति, जाति में विकसित हो जाता है। व्यवसायिक सहयोग के अन्तर्गत वर्ग निर्मित होते हैं और इस तरह वर्गों, जातियों के परस्पर सहयोग के रूप में समाज तथा सामाजिक मर्यादाएं विकसित होती हैं।

11.3 डोगरी लोकगीतों में सामाजिक चित्रण

किसी भी क्षेत्र के लोगों के सामूहिक जीवन को सामाजिक जीवन कहा जाता है। सामूहिक जीवन जीने के लिए समाज अनेक प्रकार की सामाजिक सुख-सुविधाएं भी जुटाता है और समाज के सदस्यों पर कुछ मर्यादाएं भी लागू करता है जिनके बीच उसे इन सुख-सुविधाओं का उपभोग और उपयोग करना होता है। लोगों के इस परस्पर आदान-प्रदान को ही सामाजिक जीवन कहा जाता है। समाज में रहते हुए परिवार और जातियां अपनी रक्त सम्बंधी शुद्धता के निर्वाह के लिए जातिगत भेदभाव और जातिगत स्वाभिमान को विकसित कर लेती हैं और उसी स्वाभिमान के अन्तर्गत जीवन जीने के लिए जातिय मर्यादाएं और पवित्रता आदि की भावनाएं विकसित कर लेती हैं, इन्हीं भावनाओं के अन्तर्गत वे वैवाहिक सम्बंध स्थापित करते हैं।

कई बार एक जैसे कार्य-व्यवसाय के कारण भी लोगों में एकता स्थापित हो जाती है और वे परस्पर आदान-प्रदान करते हुए परस्पर उपयोगी और सहयोगी बन जाते हैं और एक वर्ग के रूप में उनमें वर्गीय भावना पैदा हो जाती है जैसे व्यापारिक वर्ग, पूंजीपति वर्ग, कृषक वर्ग, मज़दूर वर्ग, कर्मचारी वर्ग आदि। यह वर्गगत समाज अपनी सुदृढ़ता के लिए कुछ मर्यादाएं स्थापित कर लेता है और उन मर्यादाओं के अन्तर्गत सुख-सुविधाएं जुटा कर सुखी जीवन व्यतीत करता है। इसी तरह एक जैसी आध्यात्मिक विचारधारा वाले लोगों को धार्मिक वर्ग कहा जा सकता है। यह वर्ग भी अपने समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एकजुट होते हैं।

समान धर्म और रहन-सहन सम्बंधी समान संस्कृति वाले लोगों के समूह में भी धार्मिक सौहार्द, ममता और एकता स्थापित हो जाती है जिसे सुदृढ़ रखने के लिए वे लोग-समूह कई प्रकार के उत्सव, पर्व मनाते हैं और सामूहिक देवी-देवताओं की पूजा अर्चना करते हुए उनसे सुख-सुविधा और सुरक्षा की कामना करते हैं। इस प्रकार समाज में अनेक प्रकार की जातिय,

धार्मिक, रीति–नीति, आचार–व्यवहार सम्बंधी मर्यादाएं बन जाती हैं जिनके अर्न्तगत जीवन–यापन करते हुए समाज विकसित होता है और अपने सदस्यों को परस्पर जोड़े रखता है, उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है और लोगों की शारीरिक, मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाता है। लोगों के इसी पारस्परिक आदान–प्रदान और रीति–रिवाजों के पालन तथा उत्सव पर्व को मनाने की वृति को सामाजिक जीवन कहते हैं।

क्षेत्र के लोक साहित्य में सामाजिक जीवन से सम्बंधित लोकमानस की अभिव्यक्ति होती रहती है और यह अभिव्यक्ति लोगों के मन को लोक–संस्कृति के अनुरूप ढालती भी है और विरेचन की भूमिका निभाते हुए उन्हें आनन्दित भी करती है। डुग्गर क्षेत्र का लोक जीवन भी डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त हुआ है जिसका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है–

पारिवारिक जीवन, जातिगत जीवन, सामूहिक जीवन, धार्मिक जीवन, आर्थिक जीवन, लैंगिक जीवन।

लैंगिक जीवन में भिन्न लिंगी आकर्षण के अर्न्तगत आने वाले सभी सम्बन्ध लिए जा सकते हैं। सामाजिक स्वीकृति पाकर यह सम्बन्ध पति–पत्नी के रूप में बदल जाते हैं नहीं तो प्रेमी–प्रेमिका के रूप में। पति–पत्नी का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन का मूल उत्स है। परिवार में भाई–बहिन, माता–पिता, पुत्र–पिता, पुत्र–माता, पुत्री–पिता, पुत्री–माता आदि सम्बन्धों में भिन्न लिंगी आकर्षण वर्जित है जबकि देवर भाभी, जीजा साली के बीच सहज आकर्षण को छेड़छाड़ की सीमा तक सामाजिक छूट रहती है। देवर भाभी और जीजा साली के रिश्ते परिवार से बाहर, रक्त सम्बन्धों से बाहर के युवक– युवतियों के बीच भी वैवाहिक स्थिति के अनुसार बन जाते हैं। ऐसे रिश्ते सम्बोधन के धरातल पर स्वीकार्य होते हैं और समाज में परस्पर सौहार्द, भाईचारे और सहयोग के कारक होते हैं। डोगरी लोकगीतों में इन सभी रिश्तों का वर्णन हुआ है–

11.3.1 पति–पत्नी का पारिवारिक जीवन

परिवार में स्त्री को पत्नी, बहु, मां, भाभी, ननद, सास, देवरानी, जेठानी आदि अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। इन भूमिकाओं में उसे परिवार के अनेक कर्त्तव्य निभाने पड़ते हैं तो उसे परिवार में कई अधिकार भी मिलते हैं, परस्पर प्रेम और सम्मान भी मिलता है और ताने उलाहने भी सुनने पड़ते हैं। उसे परिवार के सुख के लिए त्याग भी देना पड़ता

है। इस तरह स्त्री का पारिवारिक जीवन अनेक प्रकार के खट्टे-मीठे अनुभवों को ग्रहण करता हुआ व्यतीत होता है। परिवार में पत्नी के रूप में वह जो भोगती है उसका वर्णन तो अधिकतर श्रृंगार वर्णन के अर्न्तगत किया जा चुका है। श्रृंगार वृत्ति के अतिरिक्त स्त्री की अन्य भूमिकाओं का यहां वर्णन किया जा सकता है।

परिवार में स्त्री को जीवन-यापन करते हुए कई काम करने पड़ते हैं, शारीरिक रोग झेलने पड़ते हैं, लोगों के ताने-उलाहने सुनने पड़ते हैं और वह रात-दिन अनेक प्रकार की सोचों में उलझी रह जाती है उसका सरु के पेड़ जैसा सुन्दर, प्रफुल्लित, सुगंधित शरीर रोगों-गालियों, झूरों और सोच-विचारों के कारण दुर्बल पड़ता रहता है। वह अपनी सुविधाओं की अपेक्षा परिवार की सुख-सुविधाओं के लिए खटती रहती है -

''मेरी काया बजैं दी डाली ओ
मेरी काया झूरैं गाली ओ - मेरी काया
मेरी काया चम्बे दी डाली ओ
मेरी काया सोचें गाली ओ।''

उसके सुन्दर नख-शिख मानो सांचे में ढाल कर बनाए गए हों। उसके सुन्दर चमकीले दांत आकर्षक हैं। इसी तरह उसके सुन्दर नाक में लौंग है, कलाई में चूड़ियां, पांवों में कड़ियां, पायल, झांझर आदि हैं। इन जेवरों ने उसके आकर्षक सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया है और लोक गीतकार के मन में जिज्ञासा पैदा हो जाना स्वाभाविक है कि इतनी सुन्दर लड़की किस देश से आई है, (जन्मी है) और किस देश को (ब्याह कर) जाना है -

''प्हाड़े देस दा तूं आइएं,
ते झिक्के देसै गी तो जानां
रांझे दीए ओ पतले।''

इस तरह नारी जहां जन्म लेती है वहीं न रहकर विवाह के बाद नये माहौल में चली जाने के लिए विवश होती है। वह बेचारी कहती भी है कि पराए देश न भेजा जाए वहां के लोग अलग तरह के होंगे, रास्ते अनजाने होंगे। सास, ननद उसके साथ न जाने कैसा व्यवहार करेंगी। उसके कामकाज में त्रुटियां निकालेंगी, उसे ताने देंगी। यह भी हो सकता है कि उसके पति को उसके

विरुद्ध बहका कर उसे पिटवाएं। ऐसी स्थिति में वह भोली ञ्याणी मति वाली लड़की क्या करेगी, किसे अपना दुख सुनाएगी –

नईं कुसै बी चुप कराना
असें रोई रोई नैन गुआने।

परन्तु जब उसका विवाह हो जाता है तो उसे मायके का घर छोड़ कर ससुराल जाना ही पड़ता है तब वह अपने मायके को याद करती है। कौए के माध्यम से अपने दुःख वहां तक पहुंचाना चाहती है परन्तु ससुराल के प्रति अपनी मर्यादा और मायके को दुःख न पहुंचे इस विचार से अपना दुःख नहीं सुना पाती। उसे डर है कि उसके प्रति सुनकर उसकी मां चरखा कातती हुई रो पड़ेगी, पिता कारज–व्यापार करता हुआ लोगों के बीच रो पड़ेगा। घुड़सवार सैनिक भाई भी अपनी विवशता के आगे रो पड़ेगा। गुड्डियां खेलती हुई छोटी बहिन उसे याद कर रो पड़ेगी और कसीदा काढती भाभी भी रो पड़ेगी। इस तरह अपनी मां–बहन, भाभी–पिता और भाई के सुखों की कल्पना करके वह बेचारी चुप रह जाती है। अपने मायके–परिवार और ससुराल–परिवार के बीच स्त्री की स्थिति बड़ी करुणापूर्ण बनी रहती है–

''मत गल्ल करयां मेरी माऊ दे अग्गे।
चर्खा कतेंदी मां मेरी रोई पवै
मत गल्ल करयां मेरे बावल दे अग्गे।
मण्डी च बैठा राजा रोई पवै।''

और ससुराल में विवश हुई–सी वह अपनी घर–गृहस्थी में रम जाती है। अपनी पीड़ाओं को चाह कर भी नहीं खोल पाती और पारिवारिक कैद में पड़ी अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करती जाती है। पति, देवर आदि के काम–काज नौकरी की चिन्ता करती है। देवर के प्रति अपने कर्त्तव्य को याद रखती है। उसके खाने–पीने और स्वाद के प्रति अतिरिक्त जिम्मेदार बनी रहती है। अपने सुख–दुःख को भूल जाती है, कुछ कर्त्तव्य–बोध के कारण, परिवार में एकता बनाए रखने के लिए तो कुछ अपनी संतान के प्रति ममता के कारण –

''कियां गुआड़ां भित्ते दे सौंगलू, गोदा सुत्ता नंदलाल,''

इस तरह पारिवारिक कर्त्तव्यों की कड़ियों में बंधी अपने दुखों को वह हृदय के भीतरी

तहखानों में बंद कर लेती है और ममता के कारण गृहस्थ जीवन को सुखी बनाए रखती है। सुचारू गृहस्थ जीवन के लिए उसे दिन-रात काम करना पड़ता है। आधी रात को चक्की पर अनाज पीसना पड़ता है, भरी दुपहर में तपते हुए पत्थरों पर चल पानी लाना पड़ता है –

''अद्धी रातिया चक्की दा घस्सना।
भर दुपहरिया पानिएं गी नस्सना।''

गृहस्थ जीवन में उसे गरमी, सर्दी, बरसात आदि विपरीत पहलुओं का सामना करना पड़ता है। सुख-दुःख, कड़वा-मीठा अनुभव ग्रहण करना पड़ता है फिर भी वह पति के प्रति प्रेम, निष्ठा और मिलन के चाव के सामने सास-ननद के तानों, बहकावों की परवाह नहीं करती और जब कभी स्थिति अधिक बिगड़ती है तो पति के मनाने पर पुनः अपनी गृहस्थी में आकर रम जाती है क्योंकि वह सोचती है कि ननद अधिक दिन भाई का खाना नहीं पकाएगी, वही दो चार दिन बाद रूठी हुई भाभी को मनाने के लिए भाई को भेज देगी –

''इक दिन बीरा दो दिन बीरा
त्रीए दिन भाबी गी लेया''

और ऐसी स्थिति में वह पति के प्रति निष्ठा और प्रेम में बंधी लौट आती है। इस कारण भी लौटती है कि सास-ननद ने जिन चूड़ियों के कारण उसके पति को उसके विपरीत बहकाया था, पति वैसी ही चूड़ियां पहना देता है –

''पंज रपे मोआ पल्लेया दा दिंदा
नमां बो लेया चढ़ा
ओ जान्नें।
नमां बो लेया चढ़ा।''

ब्याहता नारी की पति के प्रति निष्ठा, वफादारी और ऐसी निष्ठावान नारी के प्रति लोक कवि का श्रद्धा भाव डोगरी लोकगीतों में व्यक्त हुआ है क्योंकि नारी की यह निष्ठा उसके परिवार को सुदृढ़ बनाए रखती है। लोक कवि तो ब्याहता नारी के नख-शिख के सौंदर्य को अलंकृत करने वाले ललारी, घम्यार, सुनार आदि के कल्याण की कामना करता है। लोक कवि गृहस्थ नारी के साज-शृंगार सम्बंधी अलंकारों के साथ-साथ उसके घरेलू काम-काज का भी वर्णन

करता है –

“खुए पर खड़ोतिए गोरिए
तेरे नक्कै दा बेसर
हल्ला बो करै
हल्ला झुल्ला बो करै
जिस सन्यारै घड़ी तेरी बेसर
उसदा परमेस्सर भला बो करै।”

और राह चलती हुई गृहस्थ स्त्री यदि किसी प्राकृतिक आपदा से बचने के लिए और अपने मातृ–कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए मदद मांगती है तो अपने प्रति मददगार के आकर्षण और बांसुरी बजाने के चाव के कारण को भी समझती है परन्तु वह इस स्थिति की उपेक्षा करके गोदी के बालक की रक्षा के लिए चिंतित है –

“जोरैं जोरैं बद्दल बरदा
छत्तरी लैना दे
राहे बिच बौंगलू तेरा
पल भर बौह्नादे”
भला मियां मंगलोटुआ हो
गोदिया बाल ञ्याना
छत्तरी लैना दे।

पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा लोक कवि ने अनेक स्थलों पर की है। स्त्री अपने पति के वियोग में सजती संवरती नहीं है बल्कि अपने गृह कार्यों में जुटी रहती है। उसका पहरावा मैला हो रहा है परन्तु वह बदल नहीं पाती। राह चलता कोई मर्द उसे जेवरों, सुन्दर वस्त्रों और सुख–घड़ियों का लालच देकर अपने साथ चलने का आमंत्रण देता है तो वह उसे झिड़क देती है –

“अग्ग लग्गै तेरे गहनियां जो
नदिया रूड़ै तेरी पंज लड़ी
जदुं औंग्गा गोरी दा कैन्त

तां करगी सुख-घड़ी।''

उसकी इस झिड़की पर लोक गीतकार उसकी प्रशंसा करता है-

''धन धन तेरी अम्बड़ी जो
जिन्ने ए जेई धी जाई
धन धन उस रसिए दे भाग
जेदै तूं लड़ लाई।''

पतिव्रता स्त्री अपने पति को सभी सुख देना चाहती है। उसके सम्मान में किसी प्रकार की ठेस को सहन नहीं कर पाती, ऐसी स्थिति में तो वह उसे नौकरी तक छोड़ कर घर लौटने के लिए कह देती है -

''नाम कटाई घरै आई जा ओ।
होरने सपाइयें दे चिट्टे-चिट्टे कपड़े,
तूं कज्जो कीता मैला भेस, ओ सपाइया।''

पति के प्रति निष्ठावान नारी को कोई बहका नहीं सकता, किसी बहाने उसे उसके कर्त्तव्य से डिगा नहीं सकता। ब्याहता चाहे उसका विवाह अनमेल ही हुआ हो अपने कर्त्तव्य का पूरा निर्वाह करती है। वह बूढ़े सास-ससुर की सेवा में सुख अनुभव करती है, ननद के विवाह के प्रति चिंता करती है, जात-कजात की मर्यादा का पालन करती है। अपने प्रति आसक्त किसी रांझे द्वारा दिए लालच को स्वीकार नहीं करती। सांझ पड़ने पर वह अपने पति-घर में किसी अन्य पुरुष को डेरा नहीं देती-

तेरा डेरा मेंरै निं बनदा
में घर कंत ज्यानां जी

और जब रांझा उसे रास्ते में रोकता है जात-कजात की मर्यादा नहीं मानता और उस के ज्याने (बच्चे) पति का कहीं और विवाह कराने की बात कहता है तो वह व्यंग्य करती है -

''कैंत मेरे दा ब्याह करानां
आपूं फिरै कुंआरा जी।''

रांझा उसके व्यंग्य को समझता है और उसके प्रति अपने आकर्षण (नियति) को प्रकट

करता है –

> ''तूं गुजरी सिर लेखै लिखिएं
> तां में फिरां कुआरा जी।''

ब्याहता स्त्री के समक्ष इस तरह के कई प्रस्ताव आते रहते हैं। वह भी अपने रूप के प्रति लोगों के आकर्षण और चर्चाओं को समझती है और रस लेती है। रूपगर्विता स्त्री की काली चुन्नी की चर्चा उसके ससुर तक पहुंचती है, माहिए तक पहुंचती है, सास तक पहुंचती है –

> ''उड्डी उड्डी चुन्नी/ मेरी सस्सु नै बी दिक्खी लेई
> कोठे पर थाली बजा रेई/ होई मजेदार।

और जब स्त्री को अपने घर–परिवार के लिए अपनी कुरबानी देनी पड़े तो भी वह पीछे नहीं हटती। 'रुल्लैह दी कूह्ल' लोकगाथा बहु के आत्म बलिदान की ही गाथा है। परिवार के प्रति वह इस हद तक जुड़ी है कि बलिदान की घड़ी में भी वह अपनी ममता, ससुर के प्रति सम्मान, सास के प्रति समर्पण भाव और ननद के प्रति सख्य भाव को भुला नहीं पाती। अपने पुत्र को वह पति की निशानी के तौर पर अपनी सास को ही दे रही है, जो अपने पति को पुत्र की अपेक्षा बहु की कुरबानी का परामर्श दे चुकी है और सास के परामर्श के तहत ही बहु को कुरबानी देनी पड़ी है। कुरबान हो रही स्त्री अन्तिम क्षणों में भी अपने पुत्र और पति को नहीं भूल पा रही –

> लक्क बे लक्क मिगी दब्ब बटैड़ेया
> अड़ेया छात्ती बांदी रहना दे जरूर
> गोदी दे बिच मेरा बालक ज्याना
> अड़ेया उस्से दुद्द पीना बे जरूर।

ऐसी पतिव्रता स्त्री का पति भी उसके त्याग और बलिदान को महत्व देता है और पत्नी के लिए अपना भी बलिदान दे देता है–

> ''लेई तलोआर कैंत
> रूल्लै कोल पुज्जदा
> ते आप मुंडी बड्डी लेई जरूर।''

इस तरह डोगरी लोकगीतों में परिवार का चित्रण करते हुए स्त्री का पत्नी के रूप में अत्यधिक चित्रण हुआ है। स्त्री पुरुष में यह दाम्पत्य प्रेम सात्विक और त्यागमय है।

परिवार में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी भी होते हैं। उपर्युक्त लोकगीतों में स्त्री के अपनी सास, ससुर, ननद आदि के रिश्ते से जुड़े कुछ उद्धरण दिए जा चुके हैं। इन लोकगीतों में दो-तीन स्थलों पर ही सास और ननद उसके पति को उसके विरुद्ध बहकाती हैं जबकि अधिकतर स्थलों पर उनमें सुहृदयता और प्रेम के सम्बंध का ही चित्रण हुआ है।

परिवार के चित्रण में देवर-भाभी और जीजा-साली के सम्बंधों का भी अच्छा चित्रण हुआ है, जिसका वर्णन निम्नलिखित है –

11.3.2 देवर भाभी का सम्बन्ध

परिवार में किशोरावस्था के देवर के मानसिक विकास का समाजीकरण करने में भाभी का विशेष योगदान रहता है, वह उसे पथ विचलित होने से बचाती है और परिवार को सुदृढ़ बनाने का यत्न करती है। गुज्जर भाभी बीड़ी भी पीती है परन्तु यहां लोकगीत में दातुन का बीड़ा ही मंगवा रही है; ओठ रंगने के लिए।

11.3.3 जीजा साली का सम्बन्ध

जैसे देवर भाभी के सम्बंध में भाभी का कर्त्तव्य किशोर अवस्था के देवर के मानसिक विकास का समाजीकरण करने का होता है, उसी तरह जीजा का कर्त्तव्य बनता है कि वह साली की भावनाओं के विकास को उचित दिशा निर्देश दे, वह उसकी वासनाओं का विरेचन करे। और उसे पारिवारिक मर्यादाओं का निर्वाह करने में पथ विचलित न होने दे। परन्तु इस सम्बंध में भी समाज और परिवार जीजा-साली को एक सीमित छूट ही देता है, दोनों में हंसी-ठिठोली ही स्वीकृत रही है।

डोगरी लोकगीतों में भी जीजा-साली के सुहृदयतापूर्ण सम्बंधों का चित्रण हुआ है। नादान जीजे ने साली के घर के पिछवाड़े बाग लगवाया है, कुंआ खुदवाया है, महल छतवाया है, पलंग लगवाया है और वह साली को सैर करने के बहाने, पानी भरने के बहाने, महल देखने के बहाने, पलंग पर सोने के बहाने आने का निमंत्रण देता है। परन्तु साली जीजे की नादानी की ओर संकेत करती है और कहती है कि वह उसके आमंत्रण को स्वीकार नहीं कर सकती क्योंकि उसके

आने-जाने से लोक (लोग) ताने मारते हैं –

> ''जीजे स्हाड़े नैं पलंग डोआया/ साली दे पचोआड़ै,
> सुन साली जी तुस इक बारी आओ/सौने दे ओ बहाने,
> सुन जीजा जी मैं कदीं बी ना आमां/ लोक मारदे तान्ने।''

इसके अतिरिक्त जीजा साली के सम्बन्धों का चित्रण विवाह-उत्सवों पर गाई गई सिटनियों और छन्दों में हुआ है। इन सिटनियों में कोई जरूरी नहीं कि साली पत्नी की बहन ही हो उसकी सहेली भी हो सकती है और बारात देखने आई गांव-समाज की कोई कुंआरी चुलबुली लड़की भी हो सकती है –

> ''आजा आजा जीजा स्हाड़ै कारखाने,
> तुकी लोहे दा कम्म सिखा देइए।
> तेरी मां दी बन जाए रेल-गड्डी
> तेरे बापू दा इंजन बना देइए।''

इस तरह की हंसी-ठिठोली दो परिवारों और दो भिन्न-भिन्न स्थानों के लोक-समाज के बीच के रिश्ते में अनौपचारिकता और सौहार्दता पैदा करती है। लोगों में भाईचारा और मित्रता का भाव पैदा करती है।

11.4 सारांश

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि डोगरी लोकगीतों में परिवार और समाज के सदस्यों के परस्पर सौहार्द और सामंजस्य का चित्रण हुआ है, यहां के गांव-समाज में धार्मिक और साम्प्रदायिक सौमनस्य के अनेक चित्र मिल जाते हैं जो लोकगीतों की आधारभूमि बने हैं। भाव यह कि डोगरी लोकगीतों में डुग्गर क्षेत्र का सामाजिक जीवन न केवल प्रतिबिम्बित हो रहा है बल्कि जीवंत और प्रेरक भी है।

11.5 कठिन शब्दों के अर्थ

1. सौहार्द	2. साम्प्रदायिक
3. प्रतिबिम्बित	4. अनौपचारिकता

5. निर्वाह   6. शुद्धता

7. अभिहित   8. लैंगिक

9. सुदृढ़   10. आध्यात्मिक

11.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालें।

----

2. डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त पति-पत्नी के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. गीत धरा अम्बर के - डॉ. ओम प्रकाश गुप्त

2. डुग्गर का लोक साहित्य - डॉ. शिव निर्मोही

3. लोक साहित्य के प्रतिमान - डॉ. कुन्दनलाल उप्रेती

डोगरी लोकगीतों में 'संस्कृति' का चित्रण

रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 डोगरी लोक गीतों में संस्कृति

12.4 सारांश

12.5 कठिन शब्द

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

12.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत आलेख में आप 'संस्कृति' शब्द को समझते हुए डोगरी लोक संस्कृति के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- डोगरी लोक संस्कृति में प्रचलित जीवन पद्धतियां, तीज त्योहार, रीति रिवाज़, विभिन्न देवी देवताओं के चरित्र आदि के बारे में जान सकेंगे।

12.2 प्रस्तावना

'संस्कृति' लोक व्यवहार ही है जो किसी क्षेत्र और समुदाय में सदियों से चला आ रहा होता है। यह लोक व्यवहार एक तरह का कोई अलिखित समझौता होता है, जिसके अंतर्गत लोग परस्पर आचरण करते हैं। यह कोई ऐसा सूक्ष्म तंत्र है जो अलक्षित होता है परन्तु मानव समाज के समूचे व्यवहार में लक्षित तथा मूर्त्त होता रहता है।

रक्त सम्बंधी पवित्रता और गोत्र-पवित्रता का निर्वाह करने के लिए कुछ कार्य करणीय और कुछ अकरणीय होते हैं जिन्हें कुल और गोत्र के लोग पूरी आस्था के साथ निभाते हैं। इन अकरणीय कार्यों को टैबु और इनसे जुड़े चिन्हों को गोत्र प्रतीक टोटेम कहा जाता है। किसी

कुल-गोत्र, उससे विकसित कबीले में ये टैबु, टोटेम विशेष रूप से सम्मानित होते हैं, इनसे जुड़े कुल-गोत्र के प्रतीक पुरुष कुल देव हैं, जिनके गिर्द कुल-गोत्र विशेष का सांस्कृतिक जीवन घूमता है। इन देवताओं से सम्बद्ध पर्व उत्सव मना कर लोग अपनी आस्था प्रकट करते हैं और इनसे मनौतियां मांगते हैं। कुल देवता ही विकसित होते हुए गोत्र देवता, गणदेवता आदि बन जाते हैं और उनके आचरण और क्रिया-कलापों से सम्बद्ध रीतियां, कर्मकाण्ड तथा परम्पराओं के रूप में लोक व्यवहार को संचालित करते हैं।

रक्त सम्बंधी शुद्धता, पारिवारिक स्वाभिमान सम्बन्धी कथानक और उनसे जुड़े कार्य-कलापों का महत्व भी पारिवारिक परम्पराओं और जातिय परम्पराओं के रूप में लाए व्यवहार को संचालित करते हैं। रक्त की शुद्धता का निर्वाह करते हुए ही लोग सजातीय विवाह करते हैं, अन्तर्जातीय विवाह को कबीले के रक्त को दूषित करने वाला मानते हैं। गर्भाधान से लेकर मृत्योपरांत भी व्यक्ति की कबीले या समाज में स्वीकृति के रूप में कुछ विधि-विधान किए जाते हैं, इन्हें भारतीय संस्कृति में संस्कार (परिष्करण) कहते हैं। ये संस्कार पारिवारिक भी हैं, कबीले-वर्ग और समाज से सम्बंधित भी हैं। इन संस्कारों की प्रकृति सामाजिक भी है, धार्मिक और आध्यात्मिक भी है, आर्थिक और व्यावसायिक भी है।

ये सभी संस्कार व्यक्ति की जन्म से लेकर मृत्योपरांत तक की स्वीकृति के सूचक होते हैं। जैसे शिशु के जन्म पर थाली बजाकर बधाइयां दे दिलाकर सूचना दी जाती है, जैसे जन्म से ही शिशु की पारिवारिक स्वीकृति और सामाजिक स्वीकृति के रूप में गुढ़ती अन्न-प्रश्न, नामकरण आदि अनेक संस्कार किये जाते हैं और अनेक प्रकार के पारिवारिक आयोजन उत्सव मनाए जाते हैं। मुण्डन संस्कार, यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात विद्यार्जन के लिए बच्चे को विद्यालय भेजा जाता है, दीक्षा उपरान्त गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिए विवाह संस्कार किया जाता है। विवाह का उत्सव बड़ी धूमधाम और रीति-नीति से मनाया जाता है। गर्भाधान बिवाई संस्कार आदि मृत्यु तक सोलह संस्कार किए जाते हैं। इन सभी संस्कारों के साथ अनेक लोक व्यवहार प्रचलित हैं जिसे क्षेत्र विशेष की संस्कृति कहा जा सकता है।

साधारणतया संस्कृति के प्रसार को देखते हुए इसे क्षेत्र, धर्म, कला, राजनीति, भाषा आदि की समानता में देखा जाता है। वास्तव में यह लोक व्यवहार ही है जो सूक्ष्म और अमूर्त रूप में किसी क्षेत्र, धर्म, कलाओं, राजनीति और भाषा में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी लोक व्यवहार की अभिव्यक्ति धर्म, कला, राजनीति, भाषा आदि में किसी क्षेत्र विशेष में होती है परन्तु यह भी सत्य है कि यह लोक व्यवहार समय की सीमा में न बंधकर मानव जाति में आदि काल

से प्रवाहित रहा है। लोकमानस इसी लोक संस्कृति का वाहक रहा है और लोकगीतों में लोक मानस ही अभिव्यक्त होता है।

12.3 डोगरी लोकगीतों में 'संस्कृति'

डुग्गर क्षेत्र की लोक संस्कृति की विस्तृत अभिव्यक्ति लोकगीतों में हुई है, जिससे इस क्षेत्र में प्रचलित जीवन पद्धतियां, मेले, उत्सव, विवाह आदि पारिवारिक उत्सव और धर्म, अध्यात्म तथा आर्थिक व्यावसायिक जीवन से जुड़े रीति-रिवाज़, कर्मकाण्ड आदि से जुड़े क्षेत्रीय देवी-देवताओं के चरित और टेमज़ आदि इन देवी- देवताओं के प्रति आस्था, इनसे मांगी जाने वाली मनौतियां, इष्ट लाभ पर देवी-देवताओं को चढ़ाई जाने वाली भेंट, भेंट चढ़ाने के लिए देव-स्थान की यात्रा आदि के दौरान किए जाने वाले कर्मकाण्ड, वार्षिक उत्सवों पर होने वाले नृत्य, नाट्य, रास आदि में यह संस्कृति अभिव्यक्ति पाती है। डोगरी लोकगीतों में चित्रित संस्कृति का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में किया जा सकता है –

मैत्री और अतिथि सत्कार

डुग्गर क्षेत्र के लोग परस्पर मित्रता और भाईचारे का निर्वाह करते हुए जीवन-यापन करते हैं। मित्र-शत्रुओं ने इस क्षेत्र की प्राकृत सम्पदा को बेशक खरीदने-बेचने की वस्तु बना दिया है, लोग तो इसे मैत्री की सौगात के रूप में अतिथि सत्कार करते हुए सज्जन लोगों की झोली में डाल देते हैं। लोक व्यवहार की विनम्रता, मैत्री और भाईचारे को व्यक्त करने के साथ-साथ कवि संस्कृति पर आ रहे संकट की ओर भी संकेत करता है–

''अम्ब पक्के राविया पार ते नेयी पेइयां डालियां,
औंदे प्हाड़ी लोक मरोड़ी जंदे डालियां
औंदे स्हाड़े बैरी ते लान डूंगियां बोलियां
औंदे स्हाड़े सज्जन ते भरी नेंदे झोलयिां।''

जातिगत सौहार्द यहां की संस्कृति का मूल अंग है, जाति और धर्मगत भेदभाव की अपेक्षा लोग परस्पर मानवीय रिश्तों में बंध कर जीवन-यापन करते हैं। गांव की बहु और गांव के कुंआरे युवकों के बीच का सुखद और सौहार्दपूर्ण सम्बंध महत्वपूर्ण है –

''अउं बागें लुआन्नी शहतूत/अउं गुजरेटी
तूं रजपूत/जोड़ी अजब बनी ओ द्योरा''

द्योरा ओ मेरेया लोभिया॥

यहां के लोग विभिन्न पेशे और व्यवसाय करते हैं और इन व्यवसायियों के प्रति कोई छुआ–छूत का भाव नहीं बल्कि इन्हें अपने जातिगत पेशों व्यवसायों में कुशल और व्यवसाय के सार तत्व (भेद रहस्य) आदि को जानने वाले मानकर इनकी प्रशंसा की गई है –

''ओ सुन्ने दी सार सुनयार जानैं।
ओ लोहे दी सार लोहार जानैं
जो मिट्टी दी सार घम्यार जानैं।
मड़ो राम दियां कीतियां राम जानैं।''

यहां के लोग गोपियों और कृष्ण के बीच के आध्यात्मिक प्रेम सम्बंधों को श्रद्धा और आस्था की निगाह से देखते हैं और रासलीला में सक्रिय भाग लेते हैं, होली खेलते हैं जो रासलीला का ही एक रूप है। रसिक राजा पर रानी व्यंग्य करती है तो राजा गोपियों और कृष्ण के सम्बन्ध की आड़ लेता है –

''बिन्द्रा बनै बिच सेइएं दी रास बो
उत्थैं गुजारी रानी कल्लै बाली रात बो
फौगन म्हीने राजा होलियें दी पुन्नेयां,
गोपिएं रंगे रानी कपड़े लाल बो।''

छैल–छबीला कृष्ण राधा को ढूंढता फिरता है –

''मोर मुकुट, मत्थै तिलक बिराजै
कुण्डल दी शोभा न्यारी/ काँ गई ऐ राधा प्यारी''।

सजा संवरा कृष्ण राधा को ढूंढ रहा है तो राधा भी जन्म–जन्म की समर्पिता–सी उसे वचन दे रही है –

हत्थै बिच्च दन्दलू
मूंडे पर संगलू
गलै बिच कफ्फनू पाई लैना,
मेरे कान्ह कन्हाई जी।

राधा हाथ में द्राती, कंधों पर सांकल और गले में कपड़ा डाल कर बंदी बनी हुई

समर्पित-सी शरणागत हो रही है। डुग्गर क्षेत्र की संस्कृति का यह आध्यात्मिक पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण है।

यहां के लोग आध्यात्मिक जीवन को अधिक महत्व देते हैं। यह जीवन चार दिन की चांदनी है। इस पर मिथ्या अभिमान करने की अपेक्षा इसका सदुपयोग करने की प्रेरणा लोक गीतों में दी गई है और कहा गया है कि यह जवानी सूत के कच्चे धागे की तरह है जो कभी भी टूट सकती है –

''तूं मान नेई कर जुआन्निया दा
ए मुड़कनी
कच्चू दी बंग कुड़िए।''

गौह नेईं कर जुआन्निया दा।

यहां की लोकनायिका पतिव्रत को पूरी निष्ठा से निभाती है और किसी भी प्रकार के लालच को नकार देती है –

''अग्ग लग्गै तेरे गहनेयां जो।
नदिया रुड़े तेरी पंज लड़ी/ जदुं औंगगा
गोरी द कैन्त / तां करगी सुख-घड़ी।''

इस क्षेत्र का लोक गीतकार दिन-प्रतिदिन भ्रष्ट हो रही संस्कृति के प्रति चिंतित है। उसे लगता है कि सतयुग में कहा जाता था कि एक दिन कलयुग आएगा जब मंदिर दुकानें बन जाएंगे, पुजारी माल उड़ाया करेगा, बेटियां बिकेंगी, दुनिया पाप कमाने में लिप्त रहेगी, औरतें पलंग पर बैठी हुकम करेंगी और मर्द उनके लिए काम करेंगे, भले मानस की निन्दा होगी और झूठे मक्कार का यश गान हुआ करेगा, लोग मांस खाएंगे, शराब पियेंगे, अनाज इतना महंगा होगा कि पुड़ियों में बिका करेगा, सच्चे व्यक्ति की किसी ने परवाह नहीं करनी, झूठा व्यक्ति सभी पर हुकम चलाएगा। लोक कवि को लगता है कि यह काल आ ही गया है और डुग्गर संस्कृति भ्रष्ट हो रही है, उपर्युक्त कलयुगी कार्यकलाप बढ़ रहे हैं –

''भले दी होनी निन्देया
झूठा जस्स कमाएगा/ लोकै खाने मास शराब
पुड़िएं अन्न बिकाएगा।''

डोगरी लोकगीतों, विशेषकर भजनों और बिसनपत्ते (विनय पत्रिकाओं) में इस क्षेत्र के

आध्यात्मिक जीवन और संस्कृति का चित्रण हुआ है। लोग प्रभु के ताल पर नाच रही मीरा के ताल से ताल मिलाकर नाचने के लिए तत्पर हैं और ऐसी स्थिति में न उन्हें विष के प्याले से डर लगता है न विषैले सांपों से। वह तो प्रभु-मिलन की आस में अनेक प्रकार के सांसारिक कष्टों को सहर्ष झेल जाते हैं।

''ज्हैर प्याला भेजो माई
भेजो मीरां दे पास।
गट-गट करदी मीरां पींदी
हरि मिलन दी आस।''

यहां के लोगों का मन श्याम के प्रति लीन रहता है।

वे उन्हें प्रेम करते हैं और चाहते हैं कि जैसे उन्होंने मीरा का उद्धार किया; उन्हें भी भवसागर से पार उतारें परन्तु विडम्बना यह है –

''शाम नैं मेरा मन प्यार करे
बार बार में फेरे पान्नीं।
दुद्दै दी मटकी भर ले आन्नी
पर नईं कान्हा ध्यान धरे।
राधके! रस्ते च मदन गोपाल खड़े।''

तप, त्याग, निष्काम सेवा न केवल डुग्गर क्षेत्र की बल्कि भारतीय संस्कृति की ही पहचान है। लोग मानते हैं कि यह संसार क्षणभंगुर है, यहां के सुख और सम्पदा अंतिम समय में साथ नहीं रहते बल्कि बेटे-बेटियां भी साथ छोड़ जाते हैं इसलिए इनके लिए कुकर्म नहीं करना चाहिए। लोक गीतकार व्यंग्य करता है –

''ए जिन्द दौं दिनें दी परौह्नी ओ
इक दिन चिट्ठी कुसै बरागै बाली औनी ओ।''

और जब कोई लोक गीतकार अपने जीवन की वास्तविकता को समझ लेता है तो भगवान के समक्ष निरीह हो उठता है, उसे भेंट देने के लिए अपना अपने पास कुछ भी प्रतीत नहीं होता। दूध, फूल, जल, फल, सभी कुछ पशु-पक्षियों द्वारा जूठा किया हुआ है कुछ भी पवित्र नहीं। जिसे भगवान को अर्पित कर सके। स्थिति यह है कि यदि वह शरीर को ही अर्पित करती है तो वह अनेक प्रकार की काम-वासनाओं द्वारा जूठा किया गया है, पति ने उसका उपभोग करके उसे झूठा

किया हुआ है–

"तन देआं तां कांमै दा जूठा,
कैन्ता दा जूठा।"
तेरी के किछ भेटां चाढ़ां मेरे भगवान जी?

लोग देवी–देवताओं की महिमा और उनकी दैवी शक्ति के प्रति आस्था रखते हैं। उनके प्रति आकर्षित होते हैं और महिमागान करते हैं। इस क्षेत्र में माता वैष्णों देवी का मंदिर महत्वपूर्ण है। लोक गीतकार ज्वाला जी के मंदिर और माता की महिमा गाता है –

"नंगे नंगे पैरें माता अकबर आया,
सुन्ने दा छत्तर चढ़ाया।
० ० ० ० ० ०
सुआ सुआ चोला माता अंग बिराजै,
चन्नन तिलक लगाया,
जोतां जागदिआं।
माता दै दरबार जोतां जागदियां।"

इसी तरह लोक गीतकार राधा और कृष्ण के सुन्दर बांके छैल–छबीले रूप के प्रति आकर्षित है। मथुरा की गुजरी (राधा) गोरी है जबकि गोकुल का ग्वाल (कृष्ण) अति काला है। दोनों के बीच के प्रेम और कमनीयता को देखकर लोक गीतकार कह उठता है –

सिर पर बिन्ना, बिन्ने पर मटकी।
चलदियै गुजरी, अटकी अटकी।
रस्ता रोकी कौन खड़ोता ए कोई बौंसुरी वाला।
ए मथरा दी गुजरी बांकी/ ए गोकल दा ग्वाला।

संस्कार गीतों विशेष कर बिहाई, सुहाग, सिटनियां, छंद आदि में यहां की संस्कृति से सम्बंधित भाववृत्तों और गर्भाधान, विवाहोत्सव, बारात का सम्मान और परस्पर अनौपचारिक रिश्तों की शुरूआत आदि से सम्बंधित अनेक लोकगीत मिल जाते हैं जिनमें क्षेत्र के लोक व्यवहार की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

लोक कथाओं, लोकगाथाओं में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति के कई रूप मिल जाते हैं। लोक प्रसिद्ध चरित्र, आख्यान, देवी–देवता से सम्बंधित महिमा और विश्वास आदि के अतिरिक्त

लोक विश्वास के कई तत्व इन कथाओं-गाथाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन गाथाओं के पात्र सम्बंधी व्यक्ति-प्रतिनिधि न होकर समूची जाति, कुल, वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं और उनके जीवन की आकांक्षाएं और अवरोध जातिगत आकांक्षाएं और अवरोध होते हैं।

डोगरी लोग गीतों में इस क्षेत्र की संस्कृति के इन तत्वों का भी चित्रण हुआ है, विशेषकर लोक गाथाओं में। कण्डी के इलाके में जल की जरुरत जातिगत आकांक्षा है जिसकी पूर्ति के लिए राजा, रानी अपनी बहु को कुरबान कर देते हैं। बहु भी अपनी पारिवारिक मर्यादा की रक्षा के लिए तथा जातिय जरूरत के समक्ष अपनी कुरबानी दे देती है। 'रुल्लैह दी कूह्ल' गाथा में राजा द्वारा कूल्ह बनवाना, कूल्ह में पानी न आना, पण्डित का परामर्श देना, रानी द्वारा राजा को परामर्श देना और बहु के बलिदान के लिए राजा रानी दोनों का सहमत हो जाना आदि कथ्य अन्य अनेक लोक कथाओं में मिल जाता है -

जेठा जो पुत्तर राजा, जेठी बी नूंएं दा
बड्डा बो पुत्तर राजा, बड्डी बो नूंए दा
कूह्ल तेरी मंगदी गलूर
जल बली जाएं बे रूल्लैह दिये कूह्ले
कूह्लै दे खल्ल राजा राखक्ष बसदा
अड़ेया चढ़ना नइयों दिंदा बैरी नीर।

इस राक्षस को प्रसन्न करने के लिए रूल्लह की बलि दी जाती है। उसे मायके से बुलवाया जाता है। उसकी मां उसे भेजने के लिए दिन, वार, दिशा, शूल के बारे सोचती है, रुल्लह की विदाई के समय हो रहे अपशकुन के बारे कहती है। ये सभी कथन डुग्गर क्षेत्र की लोक संस्कृति से सम्बद्ध हैं -

सज्जे जे पासै तेंरै कागड़ा बोलेया
मोइए खब्बे फिंडिऐ चंदरी परैड़ी

और जब बलिदान हो जाता है तो राक्षस जल भी छोड़ देता है-

सिरै पर इट्ट जदूं रखिऐ बटैड़े
लोको चली पेआ चंदरा नीर

विवाह शादी में बुटना लगाकर दूल्हे को नहलाना, लड़की को तेल चढ़ाना आदि रीति-

रिवाज़ लोक संस्कृति से सम्बद्ध हैं। इन रिवाज़ों का चित्रण भी डोगरी लोकगीतों में हुआ है। फुलमूं अपने प्रेमी रांझे के विवाह की रस्मों को देखकर बिलबिला उठती है और रांझू को उसके आमंत्रण पर उलाहने देती है –

बुटना लान तेरियां सो भाब्बियां, ताइयां, चाचियां
जिनां दे मनै बिच चा
कुन्नी बो परोहतै तेरा ब्याह लिखाया ?
कुन्नी बो कीत्ती जोरा–जोरी।

'बार–ढोल बादशाह दी' में लोक कवि ने होनी (नियति destiny) द्वारा काया परिवर्तन करना और इस संसार को क्षणभंगुर बताना, बड़े–बड़े राजा–महाराजा के द्वारा सारी धन सम्पदा, जनबल छोड़कर संसार से कूच कर जाना बताकर होनी नरबल बादशाह को जीवन की सच्चाई समझाती है। यह वर्णन क्षेत्रीय आध्यत्मिक विचारों और संस्कृति के अनुसार हुआ है। फिर सात दिन के ढोल और पांच दिन की महरबान का विवाह बाल–विवाह की कुरीति की ओर संकेत करता है–

''सत्तें दिनें दा ढोल होई पेआ, पंजें दिनें दी महरबान।
थालै बिच ब्याही ऐ, मोती पे तमोल।''

और जब महरबान बारह वर्ष की हो जाती है और उसका सौंदर्य उड़ते पक्षियों और जल के बीच रहने वाली मछलियों तक को मोहित करने लग पड़ता है और वह मां से पूछने लगती है कि उसका ब्याह हो गया या अभी वह कुंआरी है तब मां उसे उसके विवाह के प्रति सूचित करती है। इस तरह के वृत्त, होनी (नियति) के वृत्त, लोककथाओं में प्रायः मिल जाते हैं। महरबान तोते के माध्यम से अपने पति ढोल बादशाह के पास संदेश भेजती है। इस संदेश में डुग्गर क्षेत्र की आध्यात्मिक भावनाओं का और संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन हुआ है–

''जे तूं औना ढोली अज्ज आ, कल होनी बिद बरेस
सदा नि ढोला सर भरे, सदा नई ओ बाल–बरेस,
सदा निं हुसन जवानियां सदा नई ओ काले केस।''

और महरबान अपनी जवानी के व्यर्थ चले जाने की आशंकाओं का वर्णन करती है। यहां लोक गीतकार ऐसे अनेक विषयों का वर्णन करता है जो संस्कृति के लोक रक्षक रूप को व्यक्त करते हैं –

''ढोला नईं गरीब गी मारिये, बुरी गरीब दी आह्।

मोए बकरे दे खल्ल सैं लौह भस्म हो जाय।''

और अंतत: ढोल और महरबान का मिलाप हो जाता है।

'बाबा भैड़ दी कारक' लोकगाथा में बाबा का चरित्र तो आया ही है, लोक संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य भी यहां चित्रित हुए हैं। नागनी भैड़ को जन्म देती है, कपूरी क्हाई को जन्म देती है, नेवला सुरगल को जन्म देती है, बिद्ध माता उनका भाग्य लिखती है, नारियां मंगलाचार गाती हैं, पण्डित बुलवा कर बच्चों का भविष्य पूछा जाता है। पण्डित भविष्यवाणी करता है –

''जम्मुआ द टिक्का भैड़ा गी देना, अन्दर खनूरे क्हाई।
ठेड़ा दा टिक्का सुरगल देना, करड़ा राज कमाई।''

destiny

आयु बढ़ने के साथ बाबा युवक होता है तो राजा बासक अपने सभी बाइस पुत्रों को दरबार में बुलवाता है और राजा द्वारा रखी शर्त के अनुसार राजा भैड़ जम्मू का राज्य जीत लेता है। यहीं से राजा भैड़ का लोकनायक तथा लोकदेवता वाला व्यक्तित्व विकसित होने लगता है। राजा बासक जल की मांग करता है। कण्डी-क्षेत्र में जल लोक-आकांक्षा कारक रूप है। राजा बासक के बाइस पुत्र जल की तलाश में निकल पड़ते हैं। राजा भैड़ बासक कुण्ड जा पहुंचता है और तपस्या करके गदा के आघात से पहाड़ी से जल स्रोत निकाल लेता है और जल स्रोत को तवी नदी के रूप में जम्मू ले आता है –

''तप करियै राजै भैड़े नै, गदा प्हाड़ी गी लाई,
अग्गैं-अग्गैं भैड़, पिच्छैं तौ चलदी लडगन चक बड़ाई
अग्गैं-अग्गैं भैड़ देवता चलदा पिच्छैं तौ नमानी
ऊप्पर जम्मूआं दै 'तो' बगै पल्याई पिता गी देना पानी।''

इस तरह बाबा भैड़ जम्मू में तवी नदी को ले आता है। बासक-कुण्ड से चली तवी रास्ते के सारे कण्डी इलाके को सींचती आती है, इस तरह लोक-आकांक्षा पूर्ण करके राजा भैड़ लोक देवता बन जाता है उसका भगीरथ प्रयास पिता की जल पीने की आकांक्षा को पूर्ण कर देता है। अर्जुन भी भीष्म को गंगा जल पिलाता है। इस तरह बाबा भैड़ लोक-संस्कृति का निर्वाह करता हुआ पूज्य देवता बन जाता है, परन्तु वह अपने भाइयों की ईर्ष्या और द्वेष का पात्र भी बनता है और उसे धोखे से सोने के पिंजरे में बंद कर चनाब नदी में फैंक दिया जाता है।

राजा भैड़ पिंजरे में बहता हुआ पाताल लोक, के राजा 'कच्छ' के हाथ लगता है। राजा कच्छ भैड़ को बारह वर्ष अपने दरबार में रखता है। इधर बासक राजा अपने चौरासी पुत्र-पौत्रों

से राजा भैड़ के बारे पूछता है और यक्ष वजीर को उसे ढूंढने का हुक्म देता है। यक्ष वजीर उसे ढूंढता हुआ राजा 'कच्छ' के दरबार में जा पहुंचता है और दरबार में बैठे भैड़ देवता को बासक राजा का लिखा परवाना दे देता है। तब राजा 'कच्छ' अपनी पुत्री 'रानी सन्दूरी' का उससे विवाह करके उन्हें विदा करता है –

बेह्ड़े बेद गड़ाई राजे नै दित्ती ऐ पुत्तरी ब्याई
मच्छ दान दित्ते 'राजे कच्छै' समुंदरे दी लुकाई।

राजा भैड़ रानी सन्दूरी को लेकर अटक में डेरा लगाता है। बक्करे का मांस पकाया जाता है, भात बनाया जाता है और फिर राजा भैड़ अटक से चलकर चन्द्र चनाब से होता हुआ तवी में आ पहुंचता है और पीर–खोह में आकर खाना खाता है। यहीं डबर में डेरा डाला जाता है –

''अटका अटका चलेआ राजा, 'चन्दर चनावां' आई।
छोड़ी 'चन्दर चनावां' राजा तवी च पुज्जा जाई॥
पीर–खोहा आई खादी रसोई, जिन्नै डबरी डेरा लाई।
हुक्म कीता राजे भैड़ै ने देने महल बनाई॥''

यहीं बाबा भैड़ का स्थान है और लोग दूर–दूर से यहां आते हैं और पुत्र जन्म पर बाबा भैड़ को बकरा भेंट किया जाता है।

इस कारक में नाग जाति का वास दिखाया गया है जो कच्छ प्रदेश से लेकर जम्मू के समूचे प्रांत में फैली हुई है। भद्रवाह के बासुक कुण्ड से तवी नदी का लाया जाना और नागों का जल में वास, जल को बांधे रखना आदि लोक प्रसिद्ध सांस्कृतिक तथ्य हैं, विष्णु का जल में वास, शेष शय्या आदि भी इसी तथ्य के बिम्ब हैं। जल की तलाश में पांडव भी भटकते हैं, रुल्लह की कूह्ल भी बनती है और इन्द्र देवता को प्राप्त करने के लिए यज्ञ हवन भी होते रहे हैं। जल जीवन है और लोकआकांक्षा भी है, जो अनेक धार्मिक सांस्कृतिक आद्य–बिम्बों में व्यक्त हुई है।

12.4 सारांश

इस प्रकार स्पष्ट है कि डोगरी लोक गीतों में डुग्गर संस्कृति का अनेक मायामी चित्रण हुआ है। जो सुन्दर भी है और भाव प्रवण भी है। डोगरी लोक गीतों में डुग्गर संस्कृति में विभिन्न रूप यथा–प्रचलित जीवन पद्धतियां, रीति रिवाज़ पारिवारिक उत्सव, देवी देवताओं के प्रति आस्था

की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

12.5 कठिन शब्द

1. सूक्ष्म   2. कर्मकाण्ड
3. विद्यार्जन   4. स्वीकृति
5. मैत्री   6. समर्पण
7. व्यावसायिक   8. कर्मकाण्ड
9. सदुपयोग   10. कार्यकलाप

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. डोगरी लोक गीतों में अभिव्यक्त संस्कृति पर प्रकाश डालें।

----

2. डोगरी लोक गीतों में संस्कृति के किन रूपों का चित्रण हुआ है? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'रूल्लैह दी कूहल' किस प्रदेश की लोक गाथा है।

----

2. 'बार-ढोल बादशाह दी' में लोक कवि ने किसका वर्णन किया है।

----

3. 'बाबा भैड दी कारक' में किसके चरित्र का वर्णन हुआ है।

इस पंक्ति को पूरा कीजिए।

4. अग्गैं–अग्गैं भैड़ देवता चलदा पिछैं तो नमानी ऊप्पर जम्मूआं----

----

12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ/पुस्तकें

1. गीत धरा अम्बर के – डॉ. ओम प्रकाश गुप्त

2. डुग्गर का लोक साहित्य – डॉ. शिव निर्मोही

3. लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य – चन्द्रवली सिंह

4. लोक साहित्य : सिद्धान्त और प्रसंग – डॉ. गौतम व्यथित